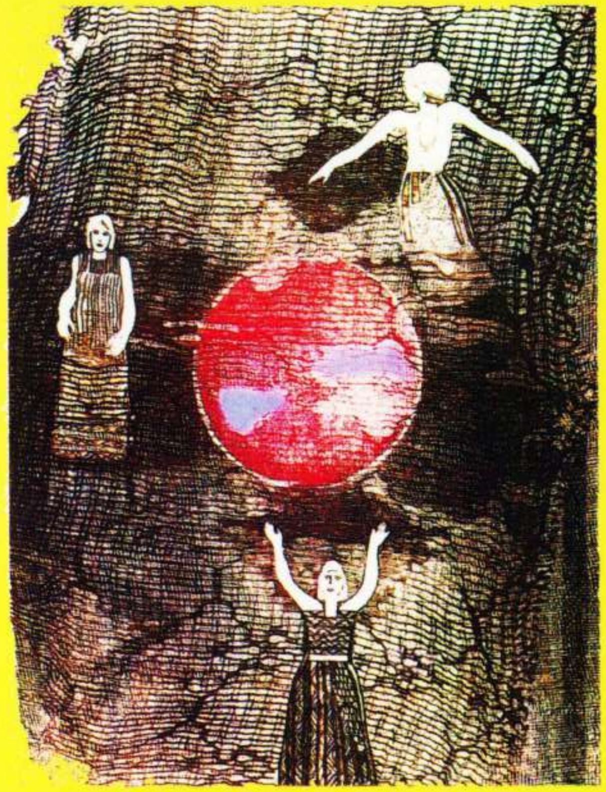
पाप और विज्ञान



डाइसन कार्टर

पाप और विज्ञान

डाइसन कार्टर

राहुल फ़ाउण्डेशन
लखनऊ

ISBN 978-81-87728-41-2

पहला संस्करण : जनवरी 2006
यह संस्करण : 2020

प्रकाशक : **राहुल फ़ाउण्डेशन**
69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज,
लखनऊ-226 006

आवरण : रामबाबू

टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुख्य वितरक : **जनचेतना**, डी-68, निरालानगर, लखनऊ 226020
फ़ोन : 0522-4108495 ईमेल : info@janchetnabooks.org
वेबसाइट : janchetnabooks.org

Paap Aur Vigyaan *by* ***Dyson Carter***

विषय सूची

प्रस्तावना

किसी भी आधुनिक नगर में सामाजिक परिपक्वता प्राप्त करने वाला कोई भी इन्सान कह सकता है कि अपराध, पाप और विज्ञान का मतलब तो खुद ही ज़ाहिर है। हममें से अधिकतर, कम-से-कम हिन्दुस्तान के रहने वाले लोग, जानते हैं कि अलग-अलग धर्मों में पाप की अलग-अलग व्याख्याएँ हैं। एक मुसलमान के लिए शराब पीना पाप है। एक हिन्दू के लिए गाय का माँस खाना पाप है। पर, एक ईसाई ये दोनों ही काम रत्ती-भर आत्मसन्ताप के बिना कर सकता है। पाप की ये अलग-अलग व्याख्याएँ समाज के नियन्त्रण के लिए काफ़ी सिद्ध नहीं हुईं। इसलिए, कुछ कामों को – जिन्हें अपराध कहा जाता है – रोकने के लिए क़ानूनी कार्रवाइयाँ की जाती हैं। इन कामों के लिए सज़ा देने का अधिकार पुलिस और अदालतों को दिया जाता है। सज़ा कारगर हो, इसके लिए ज़रूरी होता है कि अपराध का पता लगाया जाये और अपराधी के ख़िलाफ़ कुछ क़ानूनी कार्रवाई की जाये। पर अधिकतर मामलों में यह साबित करना मुश्किल होता है कि अब पाप का फल मिल गया है। इसलिए, यह कहकर सन्तोष कर लिया जाता है कि पापी अपने पापों का फल दूसरी दुनिया में या अगले जन्म में भोगेगा। पर, विज्ञान के अन्तर्गत नतीजों की नाप-जोख सावधानी से किये गये प्रयोगों और अनुभवों के तर्कपूर्ण भौतिकवादी विश्लेषण के आधार पर ही होती है। इसमें आध्यात्मिक और अदालती नियमों का समावेश नहीं। ज़हर की एक पुड़िया चाट जाने वाला इन्सान मरेगा ज़रूर, भले ही यह काम क़ानूनी हो या न हो। शरीर के अन्दर किसी रोग के कीटाणुओं के उचित मात्रा में पहुँच जाने पर वह रोग होगा ज़रूर, भले ही भगवान की इच्छा हो या न हो। साथ ही, रोग का निश्चित रूप से घटना-बढ़ना भी जारी रहेगा।

अगर किसी बुरे काम के सम्बन्ध में इन तीनों (धार्मिक, क़ानूनी और वैज्ञानिक – अ.) नज़रियों से हम एक ही नतीजे पर पहुँचे, यानी उस काम को

करने से रोग हो जाने की भारी सम्भावना हो, साथ ही वह अपराध भी हो, तो समाज उस ख़तरनाक बुराई को उखाड़ फेंकने की भरसक कोशिश करता दिखायी पड़ता है। यौन-सम्बन्धों तथा उससे सम्बन्धित बातों - तलाक़, गुप्त रोग, वेश्यावृत्ति के नियन्त्रण के बारे में तो बात ऐसी है ही। उसी तरह, शराबख़ोरी तथा इन्सान, उसके परिवार और समाज पर मशीनी युग में बढ़ती दुर्घटनाओं के रूप में प्रकट होने वाले इसके प्रभाव के नियन्त्रण के बारे में भी बात ऐसी ही है।

अभी हाल में, मौजूदा ज़माने की दो एकदम अलग-अलग सभ्यताओं ने - जो अपने-अपने ढंग की आदर्श सभ्यताएँ हैं - इन बुराइयों को उखाड़ फेंकने के लिए कुछ तरीक़े अपनाये हैं। डाइसन कार्टर ने उनकी सच्ची और निष्पक्ष रिपोर्ट पेश की है। कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि अमेरिका में विज्ञान का महत्वपूर्ण विकास हुआ है। पर कोई इस बात से भी इन्कार नहीं कर सकता कि वहाँ पुलिस-शक्ति का उससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण विकास हुआ है। अमेरिका के सभी धार्मिक दल ऐसे मसलों पर अपनी पूरी ताक़त जुटा देते हैं। फिर भी, वहाँ तलाक़ों की संख्या दुनिया-भर में क़रीब-क़रीब सबसे ऊँची है। "सुधार" के राजनीतिक आन्दोलनों, पुलिस की विशेष कार्रवाइयों और गिरजाघरों में लगातार धर्मोपदेश के बावजूद अमेरिका में गुप्त रोग, वेश्यावृत्ति और शराबख़ोरी अपनी-अपनी जगह पर ज्यों-की-त्यों बरक़रार हैं। सोवियत रूस एक नयी समाज-व्यवस्था का पहला और सबसे बड़ा प्रतिनिधि है। वहाँ इस बात की पूरी गुंजाइश थी कि वर्तमान समाज की ये ख़ौफ़नाक वसीयतें पूरे ज़ोर-शोर से भड़क उठें। क्रान्ति ने संगठित धर्म-व्यवस्था को ख़त्म कर दिया था। पहले के अधिकांश प्रतिबन्ध हटा दिये गये थे। वेश्या को अपराधी मानकर दण्ड नहीं दिया जाता था। तलाक़ बहुत आसान हो गया था। सरकार की ओर से सस्ती शराब का प्रबन्ध कर दिया गया था। इनके साथ-साथ, क्रान्ति के बाद विदेशियों के आक्रमणों और उत्पादन की बढ़ती हुई दर से उत्पन्न कठिनाइयों के बारे में भी सोचिए। पूँजीवादी तर्क-पद्धति आपको इसी नतीजे पर पहुँचायेगी कि अब वहाँ व्यभिचार का ख़ूब बोलबाला होगा। पर, हम देखते यह हैं कि सोवियत रूस में वेश्यावृत्ति एकदम ख़त्म हो गयी है। तलाक़ों की दर को घटाकर न्यूनतम स्तर पर ला दिया गया है। जो देश कभी किसानों और मज़दूरों की नशेबाज़ी से बदनाम था, वहाँ अब शराबख़ोरी का क़रीब-क़रीब लोप हो चुका है।

ये परिणाम, जो बड़े विचित्र और असंगत प्रतीत होते हैं, सोवियत रूस में वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा इन समस्याओं की जड़ों का पता लगाकर ही प्राप्त किये गये थे। पूँजीवादी देशों में पुलिस वाला जिस सवाल को उठाने की हिम्मत नहीं कर सकता, पादरी जिस सवाल को उठा नहीं सकता, वैज्ञानिक जिस सवाल को उठाता ही नहीं, वह यह है - आख़िर इन बुराइयों की **जड़ क्या है?** सोवियत रूस का उत्तर है कि कुछ वर्ग इन बुराइयों से बेशुमार मुनाफ़े कमाते हैं, इसलिए ये मौजूद हैं। इस तरह सामाजिक बुराइयों से मुनाफ़ा कमाना, सामाजिक बुराइयों से लाभ उठाना, जनता के बहुसंख्यक भाग के आम शोषण का ही नतीजा है। इससे जनता का बहुत बड़ा भाग इनकी तरफ़ झुकता है। इसीलिए, ये फैलती हैं। जनता के आम शोषण का अन्त होने से ही, सोवियत रूस में इनके मूल कारणों का भी अन्त हुआ है। जो इनसे मुनाफ़ा कमाते थे उनको कड़ा दण्ड दिया गया, उन लोगों को नहीं जो इनके शिकार हुए थे; अर्थात चकले चलाने वालों को, वेश्याओं को नहीं; ग़ैर-क़ानूनी तौर पर शराब बनाने वालों को, शराब पीने वालों को नहीं। साथ ही, सोवियत रूस में काम पाने का अधिकार हर नागरिक का अधिकार बना दिया गया। हरेक के लिए अच्छा रहन-सहन मुमकिन बना दिया गया। नयी आज़ादी का असर आसानी से दिखायी देने लगा। क़ानून, पार्टी के प्रचार और जनता की वैज्ञानिक शिक्षा का सहारा लेना सरल बन गया। जनता को पूरी तरह शिक्षित बनाने का प्रबन्ध किया गया। सस्ती व अच्छी पठन सामग्री का प्रबन्ध किया गया। सभी के लिए सुन्दर संगीत, अच्छे से अच्छे सिनेमा, संस्कृति-पार्कों और खेलकूद के मैदानों द्वारा मनोरंजन और थकान मिटाने के भिन्न-भिन्न साधनों की व्यवस्था कर दी गयी। पहले की सभी बुराइयाँ छू-मन्तर हो गयीं, क्योंकि अब उनके टिकने की कोई वजह नहीं रह गयी थी। मनुष्य का जीवन पहली बार रहने के लायक़ सुखमय जीवन बना। जीवन से कतराने और भागने की अब कोई ज़रूरत नहीं रह गयी।

भारत में, हमारे सामने भी यही समस्याएँ हैं। भारत में उन्हें दूर करने के लिए अमेरीकी तरीक़े अपनाये जा रहे हैं; उदाहरण के लिए - शराबबन्दी। किन्तु देशवासियों से जीवन की आवश्यक चीज़ें छीनकर मुनाफ़ाख़ोर उनके जीवन को तिल-तिल घटाते रहने को तैयार हैं। और यह काम वह समाज के प्रतिष्ठित वर्ग के एक सम्मान प्राप्त सदस्य की हैसियत से करता है। उत्पीड़ितों के क्रोध से पुलिस उसकी और उसके मुनाफ़ों की रक्षा करती है। भुखमरी, गन्दी बस्तियों और शिक्षा की कमी से आम जनता को कैसी हानि पहुँच रही है, इसे तो वैज्ञानिक भुला देता है। पर, वह सुझावों, डॉक्टरी मदद, यहाँ तक की प्रशंसा के द्वारा पूँजीपति की सहायता के लिए दौड़ पड़ता है, क्योंकि धनी के सिवा अच्छी रक़में दे ही कौन सकता है? जिन लोगों ने भारी मुनाफ़े कमाये हैं, उनके अलावा खोजबीन के लिए रक़में ख़र्च कर ही कौन सकता है? जहाँ तक धर्म की बात है, वह सिर्फ़ इतनी घोषणा कर देता है कि पीड़ितों को अगले किसी जन्म में उनका हक़ मिल जायेगा। कुछ और तसल्ली देना हुई, तो धर्म कह देता है : ये

लोग ज़रूर ही अपने किसी पिछले जन्म के पापों का फल भोग रहे हैं। इसका सीधा अर्थ यह है कि उनकी तरफ़ नज़र ही न उठायी जाये, या कहिये, उनका और भी डटकर शोषण किया जाये। अपनी शुभेच्छाओं के बावजूद क्रान्ति के तमाम फलों को, सुधारक लोग, बिना क्रान्ति किये ही हासिल कर लेना चाहते हैं।

प्रोफ़ेसर डी.डी. कोसाम्बी
पूना

बिना किसी सफ़ाई के

मुझे चेतावनी दी जा चुकी है कि मैं यह पुस्तक न लिखूँ। मुझे यह भी यक़ीन है कि बहुत से लोगों को इसे पढ़ने से सख़्ती से मना किया जायेगा।

यह न तो किताब पढ़ने का न्योता है और न निरुत्साहित करना ही। यह तो तथ्य को केवल सच्चाई से पेश करना है।

आमतौर से इस पुस्तक में उठायी गयी समस्याओं को अनैतिकता या पाप जैसे अस्पष्ट शब्द कहकर, दबा और टाल दिया जाता है। इनमें ख़ास हैं : बुराइयाँ, वेश्यावृत्ति, औरतों का क्रय-विक्रय, गुप्त रोग, गर्भपात, व्यभिचार की सन्तान, तलाक़, नवयुवकों की दुराचारी प्रवृत्तियाँ और शराब का ग़ैर-क़ानूनी व्यवसाय।

मैंने भरसक कोशिश की है कि किसी को भी नाराज़ न करूँ। पर मैं जानता हूँ कि इन पृष्ठों पर लिखी हुई कुछ बातों की सच्चाई कुछ भावुक पाठकों को चौंका देगी। मैं उनकी क्षमा का भागी हूँ। काश, यह किताब सिर्फ़ एक और रोमांचक रहस्योद्घाटन भर होती या पाप के बारे में व्यक्तिगत अनुभव ही पेश करती! पर, ऐसी बहुत सी किताबें निकल चुकी हैं। मौजूदा किताब उनसे बिलकुल भिन्न है।

इस किताब में पेश की गयी बातें सम्भवतः लोगों को बुरी न लगें। किन्तु इन्हें पेश करने का उद्देश्य और पुस्तक के अमली नतीजे लोगों के क्रोध और हमले का निशाना बनेंगे। वजह यह है कि इस किताब में अनैतिकता को एक नये तरीक़े से पेश किया गया है। इस किताब में अनैतिकता की समस्याओं का वैज्ञानिक नज़रिये से एक अमली, पूरी तरह समझ में आने वाला तथा एकदम सफल समाधान पेश किया गया है।

इस दावे पर या तो आपको हँसी आयेगी या आप इसे नफ़रत से टाल देंगे। हर नौजवान जानता है कि मानव समाज युगों-युगों से अनैतिक बुराइयों के बोझ से बुरी तरह पीड़ित रहा है। पाप का अन्त करने के लिए, एक बड़ी मात्रा में ईमानदारी से अध्ययन किया गया है। उपदेशों, लेखों और क़ानूनों का ज़्यादा-से-ज़्यादा

इस्तेमाल किया गया है। पर, ये सब कोशिशें असफल हुई हैं। युद्ध के दौरान, हमारे अत्यन्त आगे बढ़े हुए देशों में नैतिक ताक़तों का गम्भीर पतन हुआ है। युद्ध के बाद के काल में तो और भी ज़्यादा पतन की सम्भावनाएँ मौजूद हैं। इससे कोई भी यथार्थवादी व्यक्ति वही नतीजा निकालेगा, जो हमने निकाला है। तो फिर, कौन है वह धृष्ट जो कहे कि जहाँ तक सब प्रयत्न विफल हुए हैं, वहाँ तक किताब सफलता प्रदान करेगी?

कम-से-कम मेरा तो यह दावा नहीं!

अब हम इस बात को तय कर लें कि यह पुस्तक सामाजिक नैतिकता के बारे में होने वाले प्रयोगों का एक बिना नमक-मिर्च लगाया हुआ सही-सही ब्यौरा है। ये प्रयोग एक बहुत बड़े पैमाने पर असाधारण सफलता से सम्पादित किये जा चुके हैं। मैंने इनमें अपने किसी सिद्धान्त का पैबन्द नहीं लगाया है। जहाँ तक मुझे मालूम है, यह विवरण आम लोगों के सामने कभी भी पेश नहीं किया गया है। जिन अधिकारियों के पास इन तथ्यों का ब्यौरा था, उन्होंने इन्हें प्रकाश में ही नहीं आने दिया; यहाँ तक कि डॉक्टरों और सामाजिक कार्यकर्ताओं तक को इनसे परिचित न होने देने के लिए बड़ी सतर्कता बरती गयी।

मैं फिर से दोहराऊँ। इस पुस्तक में सिर्फ़ तथ्य दिये गये हैं और प्रमाणित तथा व्यवहार योग्य ऐसे तरीक़ों को बताया गया है, जिनके ज़रिये मौजूदा समाज से अनैतिकता का नामोनिशान उतनी ही सफलता से मिटाया जा सकता है जितनी सफलता से मध्ययुग की महामारी को मिटाया जा चुका है।

यह खरा दावा उन पाठकों को ज़रूर असमंजस में डाल देगा जो गुप्त रोगों को जीतने के लिए तो एक "वैज्ञानिक" कार्यक्रम स्वीकार करने को तैयार हैं, पर परिवार की पवित्रता से सम्बन्धित पापों – जैसे तलाक़, स्त्री-पुरुषों के बीच अनैतिक सम्बन्ध, वेश्यावृत्ति या शराबख़ोरी के ज़रिये मानव प्रतिष्ठा का विनाश, आदि – के लिए केवल आध्यात्मिक उपायों को ही उपयुक्त मानते हैं। बहुत से लोगों की समझ में तो "अनैतिक" शब्द का अर्थ ही यह है कि वह बात सिर्फ़ व्यक्ति के आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित है, इसलिए वह तर्क के क्षेत्र से बाहर की चीज़ है। या दूसरी ओर, ऐसे लोग हैं जो मानते हैं कि अनैतिकता को सिर्फ़ डॉक्टरी दवा-दारू ही समाप्त कर सकती है; मानो सामाजिक बुराई कोई ऐसा रोग है कि प्रयोगशाला में खोजबीन करने वालों को छूट मिलते ही, वे इसके शमन के लिए एक ऐसा ही अचूक रस तैयार कर लेंगे, जैसे सूजाक के मर्ज़ को 'पेनीसिलेन' का इंजेक्शन तुरन्त ठीक कर देता है।

आज दोनों ही विचारधाराओं को शक्तिशाली समर्थन हासिल है। इनमें से हर एक विचार अनेकों को सही जँचता है। कारण यह है कि दोनों में ही सच्चाई का

कुछ-कुछ अंश है। फिर भी, सभी ईमानदार और समझदार लोग एक ही नतीजे पर पहुँचेंगे कि हमारे देशों में अमली रूप से न तो तथाकथित डॉक्टरी और न शुद्ध धार्मिक तरीक़े ही पाप को मिटाने में सफल हो रहे हैं। अनैतिकता क़ाबू में नहीं आ रही है। नैतिक पतन इस तेज़ी से बढ़ रहा है कि प्रजातन्त्र के अन्तर्गत पहले कभी नहीं देखा गया था।

पिछले कुछ वर्षों में जो भी कुछ हुआ है, उससे समाज की एक सुन्दर मनोहारी तस्वीर बना पाना मुश्किल ही होगा।

'विक्ट्री गर्ल और समाजीकृत महिलाएँ'

हर एक चीज़ को शंका और अविश्वास से देखने वाले लोग नैतिकता सम्बन्धी तमाम महत्वपूर्ण समस्याओं पर कन्धे बिचका देते हैं और यह कहकर उन्हें दरकिनार कर देते हैं कि पाप का आरम्भ तो मनुष्य के साथ ही, आदम और हौवा के साथ ही हुआ है। हमें यहाँ उस आदि पाप के आरम्भ के बारे में विभिन्न धार्मिक मतमतान्तरों से वास्ता नहीं है। वर्तमान प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों को अनैतिकता से लड़ने के लिए जागृत करने का सबसे अधिक श्रेय निश्चय ही एक वैज्ञानिक को है। अमेरिका की 'पब्लिक हेल्थ सर्विस' के तत्कालीन सबसे बड़े सर्जन, डॉ. थामस पैरन ने सन 1936 में एक पत्रिका के लिए एक ऐतिहासिक लेख लिखा था। इसे पढ़कर, लाखों हैरत में पड़ गये थे। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के एक डॉक्टर ने पहली बार गुप्त रोगों की बाबत उस ढोंगपूर्ण प्रतिबन्ध को तोड़ा था, जो शिक्षित जनता से सच्चाई को छिपाता था। उसने उन दो रोगों का नाम स्पष्ट लिखा, जिन्हें सदा ही सम्पादकों की कलम छापे में आने से रोकती रही थी, यानी गर्मी और सूजाक का, ताकि हर जवान और बूढ़ा इन नामों को साफ़-साफ़ पढ़ ले।

सभ्य जगत को हतबुद्धि करने वाले, वे तथ्य इस प्रकार हैं : अमेरिका में सन 1936 में 30 लाख लोग गर्मी से पीड़ित थे। सूजाक के रोगियों की संख्या लगभग 90 लाख थी। प्रति वर्ष 5 लाख व्यक्ति गर्मी और इसके तिगुने सूजाक के शिकार बनते थे! प्रति वर्ष सैकड़ों-हज़ारों व्यक्ति गर्मी के कारण दिल के रोग से मरते थे। गर्मी के दुष्प्रभाव के कारण पागल हुए मनुष्यों की परिचर्या और इलाज में करोड़ों डॉलर खर्च होते थे। इन दो गुप्त रोगों से शारीरिक और मानसिक यातनाएँ अत्यन्त भयानक रूप धारण कर लेती थीं। कनाडा, ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य बहुत से देशों में हालत ऐसी ही, या इससे भी बदतर थी। डॉक्टर पैरन ने साफ़-साफ़ बताया कि ये दोनों ही रोग कुछ थोड़े से लोगों के गुप्त दुराचारों के "नैतिक दण्ड"-भर नहीं हैं। उन्होंने बताया कि ये दो ऐसी महामारियाँ हैं, जो ग़रीब-अमीर,

धर्मी-अधर्मी, काले-गोरे हर स्तर के प्राणियों को ग्रसती हैं। इनकी वृद्धि इतने वेग से हो रही है कि राष्ट्र के जन-स्वास्थ्य की जड़ों को ही ख़तरा पैदा हो गया है।

डॉ. पैरन की आवाज़ का कुछ पाखण्डियों ने ही विरोध किया। पर अनैतिकता पर इस डॉक्टरी हमले की सफलता में शक और शुबहा के बावजूद, अधिकतर पादरियों ने डॉक्टरों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, सम्पादकों और विधान-सभा के सदस्यों के साथ दृढ़तापूर्वक गुप्त रोगों को जीतने के काम में योग दिया। डॉ. पैरन की इस घोषणा ने कि गर्मी का रोग, जो सबसे अधिक लोगों की मौत का कारण बनता है, एक ही पीढ़ी में ख़त्म किया जा सकता है, इन लोगों के उत्साह को और भी बढ़ा दिया।

यह सन 1936 में हुआ था। दो वर्षों बाद, आन्दोलन तेज़ी से बढ़ चला। क़ानून बनाये गये। बहुत सा धन इकट्ठा किया गया। शफ़ाख़ाने और प्रयोगशालाएँ खोली गयीं। हज़ारों की तादाद में इश्तिहार बाँटे गये। हज़ारों लोगों के ख़ून की जाँच की गयी। आक्रमण एक बड़े पैमाने पर आरम्भ हो गया।

सन 1940 में डॉ. पैरन ने दूसरा लेख लिखा। अब तक गर्मी के मरीज़ों का मुश्किल से पन्द्रहवाँ हिस्सा ही ठीक हुआ था। सूज़ाक के मरीज़ों की तादाद पहले जैसी ही थी। गुप्त रोगों के ख़िलाफ़ यह आन्दोलन आशा के मुताबिक़ सफलता प्राप्त करने में असफल रहा था। शीघ्र ही सरकारी आँकड़ों ने यह भी ज़ाहिर कर दिया कि आन्दोलन का असर एकदम उल्टा भी हो सकता है। सन 1942 में अमेरिकी सेना में इन रोगों से पीड़ित लोगों की संख्या सन 1939 के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा थी।

यकायक फ़ौजी अफ़सरों ने भी इसका बीड़ा उठा लिया। वे तेज़ी से इस बुराई का "सफाया" करने में जुट पड़े। पिछले अनुभवों की तरफ़ से आँखें मूँदकर, उन्होंने पुलिस की ताक़त के बल पर पाप को खदेड़ने की ठान ली। लोग हमेशा से पाप का नाश करने के उद्देश्य से बेचारी वेश्या की बलि देते आये थे। तुरन्त ही उन्होंने भी युगों से हमले की शिकार होने वाली वेश्या का पीछा करना शुरू कर दिया। नैतिकता के उन पण्डों ने जो "शर्म! शर्म!", "पाप! पाप!", "दण्ड! दण्ड!" की गुहार मचाने में आनन्द का अनुभव करते हैं, उत्तेजित होकर वेश्याओं की प्रतारणा शुरू कर दी। कुछ ही वर्षों पहले गुप्त रोगों को वैज्ञानिक नम्रता से नष्ट करने की सभ्य और कारगर रूप में पेश की गयी योजना से यह एक बिल्कुल ही भिन्न तरीक़ा था।

असली दिवालियापन तो तब सामने आया जब कई प्रख्यात व्यक्तियों, विशेषकर जीन टनी, ने भद्र पुरुषों की तरह भावुकतापूर्ण अपीलों की झड़ी लगा दी। उन्होंने आवाज़ उठायी : लोग पाप करना छोड़ दें, इन्द्रियों को भूल जायें और

'सदाचार' नामक पुरातन सद्‌गुण को ग्रहण करके रोगों को उखाड़ फेंकें। फ़ौज में तो दरअसल हज़ारों को प्रोत्साहित किया गया कि वे कुछ अरसे के लिए पुरुषत्व ही त्याग दें और संन्यासी बन जायें। और, इसके पीछे यह स्वत:सिद्ध सिद्धान्त था कि संन्यासियों को कभी गुप्त रोग नहीं होते। इस प्रकार, सुवैज्ञानिक रूप से प्रारम्भ की गयी योजना ने मध्ययुगीन अपीलों का रूप धारण कर लिया।

सन 1943 में, उत्तरी अमेरिका के 'ऑफ़िस ऑफ़ डिफ़ेंस, हेल्थ, एण्ड वेल्फ़ेयर सर्विसेज़' (सैनिकों की सुरक्षा, स्वास्थ्य तथा कल्याण सम्बन्धी कार्यालय) और फ़ौजी अफ़सरों के बीच खुल्लमखुल्ला आम विवाद छिड़ गया। इस झगड़े ने देश के तमाम लोगों को चौंका दिया। गुप्त रोगों से पीड़ित लोगों की संख्या को देखकर 'सुरक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण सम्बन्धी कार्यालय' में तहलका मच गया था। उसने माँग की कि तमाम बड़े केन्द्रों में स्थित 'कुत्सित गृहों' से स्त्रियों को निकाल बाहर किया जाये। उन्होंने माँग उठायी कि बदनाम, लालबत्ती वाले वर्जित ज़िलों को सख़्ती से बन्द कर दिया जाये। बहुत से पादरी भी मदद के लिए दौड़ पड़े। उन्होंने देखा कि इस गन्दगी के ख़िलाफ़, जिसे बहुत से लोग बहुत पहले ही ख़त्म हुआ समझने की बातें कर रहे थे, जनता का क्रोध भड़कने में देर नहीं लगती। पर अचम्भे की बात हुई यह कि फ़ौजी अधिकारियों ने इस आन्दोलन का कड़ा विरोध किया। कुछ फ़ौजी अधिकारियों की स्पष्ट दलीलों को सुनकर तो सुधारकगण हक्के-बक्के रह गये। फ़ौजी अधिकारियों ने कहा कि 'कुत्सित मुहल्लों' की सफ़ाई करने का मतलब यह होगा कि वेश्याएँ सारे नगर पर छा जायेंगी। वैसे ख़ास मुहल्लों में बँधी रहने पर, फ़ौजी-पुलिस इन मुहल्लों में जाने से सैनिकों को रोक सकती है।

सम्पादकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए यह निश्चित करना कठिन हो गया कि इस वाद-विवाद में किसका पद लिया जाये। पर 'सुरक्षा, स्वास्थ्य और कल्याण सम्बन्धी कार्यालय' के चार्ल्स पी. टैफ़्ट महोदय को अपनी योजना की सदाक़त का पूरा भरोसा था और उन्होंने आँकड़ों का एक ऐसा अजब तख़मीना पेश किया जैसा न तो लोगों ने कभी देखा था, न सुना था। उनके विभाग का कहना था कि घर में बैठी-बैठी एक वेश्या एक रात में पचास फ़ौजियों को रोगी कर सकती है, जबकि वही वेश्या सड़क पर एक रात में आधे दर्जन से ज़्यादा ग्राहकों को रोगी नहीं कर सकती। टैफ़्ट महोदय को सदाचार वाली दलील में कोई विश्वास नहीं था। उन्होंने फ़ौजी अफ़सरों को याद दिलाया कि नगर की बुराई को लालबत्ती वाले 'वर्जित मुहल्लों' में समेटे रहने का एक ही नतीजा होता है : इससे फ़ौजों में पाप का प्रचार होता है, ख़ासतौर से नयी उम्र के सैनिकों के बीच।

इस वाद-विवाद का एक अमली परिणाम निकला था। लाखों सम्मान प्राप्त व्यक्तियों को यह स्वीकार करने पर मजबूर होना पड़ा कि वेश्याओं का व्यापार बहुत ही सुव्यवस्थित है। उन्हें यह भी मानना पड़ा कि वेश्याओं के यहाँ जाने वाले अधिकांश सज्जन उन्हीं के पास-पड़ोस में रहने वाले लोग हैं।

अब नैतिकता के पुरोहितों की शब्दावली में एक नया शब्द जुड़ गया था : 'विक्ट्री गर्ल'। अमेरिकी नौसेना के दो डॉक्टरों ने तो अखबारों में गज़ब का प्रचार शुरू किया। लेफ्टिनेण्ट कमाण्डर विशेनग्रेड ने न्यूयार्कवासियों को बताया कि संसार के इस सबसे बड़े नगर में वेश्या कोई ख़तरे की चीज़ नहीं रह गयी थी। गुप्त रोगों से पीड़ित चार नाविकों में से तीन ऐसे थे, जिन्हें ये रोग ग़ैर-पेशेवर लड़कियों से लगे थे। उन्होंने सोचा था कि अनिश्चित तौर पर अकस्मात ही मिलने वाली लड़कियों से कोई ख़तरा नहीं है। लेफ्टिनेण्ट कमाण्डर बकले ने फ़िलाडेल्फ़िया के आँकड़े देकर बताया कि वहाँ इनकी संख्या में भी बढ़ी-चढ़ी थी। उसने घोषित किया कि पेशेवर औरतों के मुक़ाबले इन लड़कियों की संख्या चौगुनी थी। ये लड़कियाँ कौन थीं? चौदह साल और उससे ऊपर की बालाएँ।

टाइम्स अख़बार ने अपने नौर्फ़ोक-स्थित संवाददाता द्वारा प्रस्तुत ये आँकड़े छापे : "जबकि पर्लहार्बर की घटना से पहले नौर्फ़ोक की अधिकांश वेश्याएँ पेशेवर औरतें थीं, अब लगभग 85 से 90 फ़ीसदी तक ग़ैर-पेशेवर लड़कियाँ हैं। इनमें से ज़्यादातर नयी उम्र की लड़कियाँ हैं, जो अच्छी तनख़्वाहों वाली नौकरियों के लालच में नौर्फ़ोक में आयी थीं। ये लड़कियाँ हर हफ़्ते सैकड़ों की तादाद में आती हैं। छोटे-छोटे क़स्बों में, खेतों पर और दफ़्तरों में क्लर्की वग़ैरह करने वाली इन लड़कियों को नौर्फ़ोक में मनचाहा आदमी तजबीज कर लेना आसान होता है।"

जर्नल ऑफ़ दि अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन ने इन तथ्यों की पुष्टि की : "पुराने क़िस्म की वेश्या अब पीछे जा पड़ी है। नये क़िस्म की वेश्या 18 से लेकर 23-24 साल तक की नयी उम्र की लड़की है... कहा जा सकता है कि गुप्त रोगों को लादने और फैलाने वाले हम लोगों में से ही हैं।"

अटलाण्टिक महासागर के उस पार, 'ब्रिटिश मेडिकल एसोसिएशन' का जर्नल स्वतन्त्र रूप से इंग्लैण्ड के बारे में इसी क़िस्म की रिपोर्टें छाप रहा था। गुप्त रोगों से पीड़ित लन्दन निवासियों की संख्या उसने वही छापी थी, जो बकले ने फ़िलाडेल्फ़िया के लिए बतायी थी। पेशेवर वेश्या से गर्मी पाने वालों की संख्या यदि एक मानी जाये तो अंग्रेज़ डॉक्टरों के स्पष्ट शब्दों में, ग़ैर-पेशेवर वेश्याओं से गर्मी पाने वालों की संख्या चार थी। ऑस्ट्रेलिया के डॉक्टरों ने अपने देश में ऐसी बदचलन लड़कियों की औसत संख्या और भी ज़्यादा बतायी। कनाडा

के अधिकारियों ने तो बड़ी विनम्रता बरती। उन्होंने सार्वजनिक रूप से अपने यहाँ के आँकड़ों का अन्दाज़ा ही नहीं बताया; पर तरुणों के मुक़दमे करने वाली अदालतों के काग़ज़ों को देखने से पता चलता है कि वहाँ भी नयी उम्र की लड़कियाँ एक कोने से दूसरे कोने तक व्यवस्थित रूप से पाप को अपनाती जा रही थीं।

ऊपर के तथ्यों से एक बात स्पष्ट हो जाती है – यह 'विक्ट्री गर्ल' (विजय बालिका) अनैतिकता और दुराचरणों का ही एक स्वरूप थी। इसमें क़तई शक नहीं कि युद्ध के दौरान बड़ी संख्या में आबादी का एक जगह से दूसरी जगह जाना और यहाँ-वहाँ उद्योगों का अव्यवस्थित प्रसार, अनैतिकता को फैलाने में काफ़ी मददगार रहा है। लेकिन एक नये ख़तरे, सद्गुणों और शिष्टता के परे एक नयी प्रवृत्ति और एक नयी तरह की बदचलन लड़कियों के अस्तित्व में आने का जो गुल-गपाड़ा मचाया जा रहा था, उसे वास्तविक तथ्यों ने झूठा साबित कर दिया। हिकमैन पॉवेल की **नाइण्टी टाइम्स गिल्टी (नब्बे गुने अपराधी)** और कार्टनी रायली कपूर की **डिजाइंस इन स्कार्लेट (सुर्ख़ क़सीदे)** दोनों ही किताबें सन 1939 में छपी थीं। इन दोनों में अनैतिकता के बारे में जाँच-पड़ताल की गयी थी कि उपरोक्त प्रवृत्ति तो सन 1925 से मौजूद है। सन 1944 में, स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी युद्धकालीन क्लाड पेपर की उपसमिति ने अपनी रिपोर्ट में बतलाया कि तरुणों में दुराचार सम्बन्धी अपराधों में पिछले दिनों जो भयानक वृद्धि हुई, वह नये युद्ध का ही परिणाम नहीं है। उसने बतलाया कि यह उस प्रक्रिया का परिणाम है जो पहले महायुद्ध के बाद ही शुरू हो गयी थी; वही प्रक्रिया जिसने अच्छे और बुरे आदमियों के बीच के सामाजिक भेद को तेज़ी से मिटाना शुरू कर दिया था।

ऊपर की बातों से दो नतीजे निकलते हैं। पहला तो यह कि गुप्त रोगों पर डॉक्टरी हमला असफल रहा था। डॉक्टर पैरन की यह धारणा कि शिक्षा के प्रसार और शफ़ाख़ानों की सहायता से गर्मी को एक ही पीढ़ी में नष्ट किया जा सकता है, अब मानने योग्य बात नहीं रही थी। कितने ही प्रगतिशील पादरियों ने पहले से ही इस नतीजे की घोषणा कर दी थी। इतवार के दिन स्कूलों में दिये जाने वाले आचार-विचार सम्बन्धी धार्मिक उपदेशों की बात छोड़िए। यह सीधी-सादी और जानी-मानी बात है कि गुप्त रोगों को अनैतिकता की पूरी समस्या से जुदा करना सम्भव नहीं है। जिस प्रकार नेकचलनी की शिक्षा देकर गुप्त रोगों को ख़त्म नहीं किया जा सकता, उसी तरह तमाम सुनियोजित डॉक्टरी योजनाएँ भी तब तक सफल नहीं हो सकतीं, जब तक लाखों-करोड़ों इंसान स्वच्छन्द यौन-सम्बन्धों के लिए क़ीमत चुकाने में कोई भी नैतिक हिचक महसूस नहीं करते।

दूसरा नतीजा ज़रा कम स्पष्ट है। गुप्त रोगों के खिलाफ़ जिहाद बोलने वाले लोग एक अजीब किस्म के एकतरफ़ेपने के शिकार होते हैं। वे इन रोगों की जड़ औरतों और लड़कियों को घोषित करते हैं और इसके लिए बड़ी चौकस दलीलें देते हैं। वे आपको – जोड़-बाक़ी तक करके – बताते हैं कि एक रात में वेश्या कितनी बार पुरुषत्व को ख़राब कर सकती है; पर जब ऐन्द्रिक-भोग के दूसरे सहयोगी अर्थात पुरुष की बात आती है तो वे आँखें बचाकर, बात टाल जाते हैं। रोगों की शिकार, ग़ैर-ज़िम्मेदार, बदचलन लड़कियों पर दाँत पीसते हुए, अन्धे सुधारकगण हाथ उठा-उठाकर कड़ी कार्रवाई करने की माँग करते हैं। औरतों का नाम लीजिए कि उनकी 'सफ़ाई' के आन्दोलनों की तैयारियाँ होने लगती हैं। परन्तु पुरुष! – उनकी तो आँकड़ों में गणना-भर करना काफ़ी है। खदेड़ना, गिरफ़्तार करना, सज़ा देना और सुधारना है तो लड़कियों को ही। पुरुषों की तो सिर्फ़ चिकित्सा होती है, कभी-कभी चेतावनी दे दी जाती है; कभी रोग से बचाव का कुछ सामान और कभी उपदेश भी दे दिया जाता है।

विज्ञान-साहित्य के क्षेत्र में भी, जहाँ आमतौर से निष्पक्षता की उम्मीद की जाती है, हमें इसी एकतरफ़ेपने के दर्शन होते हैं। चिकित्सक लोग हमेशा यही कहते हुए सुने जाते हैं कि औरतें रोग लगाती हैं और उनसे पुरुषों को लग जाता है।

सामाजिक अनैतिकता को ख़त्म करने का यह दृष्टिकोण एक फूटे हुए घण्टे के स्वर की तरह है, जो किसी को भी क़ायल नहीं कर सकता। इसे आधार माना गया तो हम किसी नतीजे पर न पहुँचेंगे। अनैतिकता – यदि हम इस शब्द से केवल गुप्त रोगों के ख़तरे को ही अर्थ लगायें तो भी – अब एक ऐसी समस्या बन गयी है जिससे बड़े गम्भीर सामाजिक दुष्परिणामों की आशंका की जा सकती है। और इस समस्या को हल करने में हमारे वैज्ञानिक और धार्मिक नेताओं ने अगर किसी भी दिशा में कामयाबी हासिल की है तो सिर्फ़ इसे और ज़्यादा उलझाने में।

निश्चय ही नैतिकता सम्बन्धी समस्याओं के बहुत से 'पण्डितों' को जड़मति क़रार दिया जा सकता है। उनका अपना खुद का एक मर्ज़ है – जड़मतिवाद, जो उनकी आत्मा का एक असाध्य रोग है और जो धूर्तता तथा अन्धविश्वास के मानसिक सूक्ष्म जीवाणुओं से पैदा होता है।

शब्द-कोषों में बहुधा जड़मति शब्द का अर्थ मिलता है – वह व्यक्ति जो विचारों और आदर्शों से परे है। उपन्यासकार गोर्की ने, जो जड़मतियों को मानवी सुख के सबसे घातक शत्रु समझते थे, इन लोगों के सम्बन्ध में एक ऐसी कलम से लिखा है जो मानो अग्नि-वर्षण करती हो।

गोर्की ने लिखा है : "जिसे 'क़ानून की रूह' और 'परम्परा' कहते हैं वह सभी जड़मतियों के भेजे में घड़ी की तरह का एक ऐसा सादा यन्त्र पैदा कर देती है, जिसकी कमानी के हिलने-डुलने से ही जड़तापूर्ण विचारों के पहिये घूमने लगते हैं" – अपने इस आक्रमण के अन्त में, गोर्की ने कहा : "हर एक जड़मति का नारा होता है – जैसा जो कुछ अब तक रहा है, वैसा ही हमेशा बना रहेगा। मरी मछली की तरह, जड़मति भी दिमाग़ की तरफ़ से नीचे को सड़ना शुरू करते हैं!"

कड़वी बात? भला उनको पाप से क्या लेना-देना? पर, अफ़सोस कि उत्तर बहुत ही साफ़ है। प्रजातन्त्र के अन्तर्गत नैतिक समस्याओं को हल करने में हमारी असफलता के कारण हमारे बीच सुधारकों की संख्या बहुत ज़्यादा बढ़ गयी है, जो सभाओं में भाषण देते हुए तो पाप पर ज़ोरदार हमला बोलते हैं पर अलग जाकर, धीरे से कन्धे बिचकाकर, मुस्कराते हुए कहते हैं : "अजी वेश्यावृत्ति जैसी अभी तक क़ायम रही है, वैसी ही हमेशा रहेगी!" अनैतिकता सम्बन्धी अपने विचारों को वे नयी डॉक्टरी खोजबीनों का जामा तो पहना देते हैं, पर उनकी आत्म-सुधार की बातों में उतनी ही नीरसता और निरर्थकता रहती है जितनी कि एक घड़ी की टिक्-टिक् में। वे हमें इससे आगे नहीं ले जा पाते। यही है – शुद्ध जड़मतिवाद, मूर्खतापूर्वक बुरे बीते ज़माने को कलेजे से लगाये हुए आत्म-सन्तोष कर लेने की दशा!

एक शब्द में, सड़ी-गली दशा।

पर सम्भवत:, आज हम सड़ान्ध को किसी भी चोले में बर्दाश्त नहीं कर सकते। हमारी पीढ़ी इतिहास में अपने किस्म की एक अनोखी पीढ़ी है। एक विराट पैमाने पर आज हम पुरातन के सभी दुखों को नष्ट करने के काम में जुटे हुए हैं – उस पुरातन के जिसमें मानव जाति युद्ध और ग़रीबी के बन्धनों से शताब्दियों तक जकड़ी रही है। अब समूची मानव जाति बड़ी तेज़ रफ़्तार से अपने लिए सचमुच ही सुन्दर और महान् भविष्य का निर्माण कर रही है।

अनैतिकता के बारे में, इन जड़मतियों का कहना है कि सामाजिक भ्रष्टाचार हमारे बीच सदा से मौजूद रहा है और अनन्तकाल तक मौजूद रहेगा। पर यह बात कितनी झूठी है, यह तभी मालूम हो जाता है जब हम गुलाम-प्रथा की बुराइयों की बाबत सोचते हैं। मनुष्यों का गुलामों के रूप में ख़रीदा और बेचा जाना हज़ारों वर्षों से क़ायम था। और बुद्धि के पीछे लट्ठ लिए घूमने वाले, ये जड़मति इसका यह कहकर समर्थन भी करते चले आये थे कि यह तो सनातन है। फिर भी लगभग एक शताब्दी के भीतर, तमाम सभ्य राष्ट्रों ने गुलाम-प्रथा को जड़ से उखाड़ फेंका। तदुपरान्त 'टाइफ़स' (एक प्रकार का बुखार जिसमें सारे शरीर पर

चकत्ते पड़ जाते थे) जैसी महामारियों को भी खत्म कर दिया गया, जिन्हें जड़मति "सनातन" घोषित किया करते थे। आज तो राष्ट्रसंघ के अन्न विशेषज्ञ संसार से अकाल को देश निकाला देने की योजनाएँ बना रहे हैं। युगों-युगों से दुनिया के लाखों-करोड़ों इन्सान गुलामी, बीमारी और भुखमरी की भट्ठी में झुलसते-भुनते रहे हैं और ये भरे पेट वाले तोंदियल, स्वस्थ, जड़मति सदा यही सलाह देते रहे हैं कि ये बुराइयाँ तो सनातन हैं!

गोर्की के इन शब्दों को मैं यहाँ फिर दोहराऊँगा : "ज़रा देर के लिए तो ईमानदार बनें और सच्चाई को देखें।"

जिन दिनों गुप्त रोगों के ख़िलाफ़ अमेरिकी जेहाद अपनी पूरी तेज़ी पर था, उन्हीं दिनों सार्वजनिक सुरक्षा विभाग के फ़िलिप एस. ब्रौटन महोदय ने एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी : **वेश्यावृत्ति और युद्ध**। इसका खूब प्रचार हुआ। 'पब्लिक अफ़ेयर्स कमिटी' नामक संस्था इसकी प्रकाशक थी और इसमें दी गयी बातें "इन समस्याओं से सम्बन्धित तमाम विभागों द्वारा जाँच ली गयी थीं।" अस्तु, पुस्तिका में लिखी सभी बातें अधिकारपूर्ण थीं। अमेरिकी सेना से भरे एक क़स्बे में, हर दूसरी जगह की तरह ही, बदचलनी की असाधारण वृद्धि का वर्णन करते हुए ब्रौटन महाशय ने लिखा था : "यह कोई ऐसा व्यवसाय नहीं जिसे चलाने के लिए राष्ट्रीय पैमाने पर एक आन्दोलन की ज़रूरत हो। वह स्वयं ही फैलने लगता है, जिस तरह शहद के पीछे मक्खियाँ दौड़ती हैं और जहाज के पीछे जलपक्षी उड़ चलते हैं। इतिहास में हर एक सेना को इसका सामना करना ही पड़ा है। हर बन्दरगाह, हर व्यवसाय की वृद्धि के ज़माने में यही हुआ है। और इसी के साथ रोग भी आये हैं।"

इस गुहार-पुकार को दुहराने के बाद भी कि बुराइयाँ और गुप्त रोग तो सनातन हैं, लेखक ने यह कहकर कि जनता आख़िर इनको कैसे दूर कर सकती है, हज़ारों शब्दों द्वारा अपने ही मत का खण्डन किया है। मैंने ब्रौटन साहब का मत इसलिए उद्धृत किया कि उनका नज़रिया अर्द्ध-सरकारी है और अनैतिकता के प्रति प्रचलित बहुधा सर्वमान्य, पराजयवादी और सतही नज़रिये को पेश करता है।

श्री ब्रौटन की बातें सरासर झूठ हैं।

इतिहास में सबसे बड़ी सेनाओं में से एक वेश्यावृत्ति से बिलकुल मुक्त है। अब तक के सबसे बड़े औद्योगिक उत्थान की विशेषता व्यभिचार की वृद्धि नहीं, बल्कि उसका ख़ात्मा ही है। पिछले बीस वर्षों में कितने ही ऐसे औद्योगिक नगर और विशाल बन्दरगाह बड़ी तेज़ी से बने हैं जहाँ अनैतिकता को बड़ी तो क्या, एक छोटी समस्या के रूप में भी पनपने का मौक़ा नहीं मिला।

दरअसल ऐसा देश मौजूद है, जहाँ बीस करोड़ जनता के समाज में वेश्यावृत्ति

और गुप्त रोगों को असली तौर पर नेस्तनाबूत कर दिया गया है। वह देश है – सोवियत समाजवादी प्रजातन्त्र संघ।

लॉर्ड तथा लेडी पैस्फ़ील्ड (बियेट्रिस एवं सिडनी वैब) तथा क्वेण्टिन रेनोल्ड्स और दर्जनों दूसरे चिकित्सा-विशेषज्ञों – जिन्होंने अमेरिका, ब्रिटेन, फ़्रांस और जर्मनी के विज्ञान सम्बन्धी अखबारों में अपनी रिपोर्टें छापी हैं – साथ ही तमाम दूसरे निष्पक्ष प्रेक्षकों ने भी – एक मत से स्वीकार किया है कि सोवियत रूस में पिछले बीस वर्षों में अनैतिकता की सभी गम्भीर समस्याएँ आश्चर्यजनक सफलता के साथ हल कर ली गयी हैं। इन समस्याओं में व्यभिचार और शराबख़ोरी की समस्याएँ भी शामिल हैं। ध्यान देने की बात तो यह है कि यह सफलता इसके बावजूद हासिल की गयी कि बीस बरस पहले रूस की जनता व्यभिचार और शराबख़ोरी में इतनी डूबी हुई थी, जितनी कि हाल के इतिहास में शायद ही किसी दूसरे महान देश की जनता डूबी रही हो।

पूर्वी मोर्चे पर हिटलर के हमले के कुछ ही दिनों बाद अमेरिकी नौसेना के कमाण्डर नारमन साहब ने – जो उन दिनों मास्को में 'हैरीमैन मिशन' के एक सदस्य थे और अमेरिकी दूतावास से सम्बन्धित स्वास्थ्य विभाग के अफ़सर थे – प्रेस संवाददाताओं को बताया था : "लाल सेना और लाल हवाई बेड़ा गुप्त रोगों से क़रीब-क़रीब मुक्त हैं। संसार की और किसी सेना के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता।" इस वक्तव्य को बहुत थोड़े अख़बारों ने छापा था। मित्र-राष्ट्रों के गुप्त-रोग-विरोधी आन्दोलनों के नेता तो इसे पढ़कर चुप्पी साध गये। लगभग तीन बरस बाद, प्रोफ़ेसर वी.वी. लेबेदेंको 'सोवियत रेडक्रास संगठन' के प्रतिनिधि बनकर अमेरिका आये। एसोशियेटेड प्रेस ने उनसे मुलाक़ात की। प्रोफ़ेसर लेबेदेंको के एक वक्तव्य ने तो रिपोर्टरों को आश्चर्य में ही डाल दिया। उन्होंने बताया : "रूसी नौजवानों की नयी पीढ़ी को यह जानने का मौक़ा ही नहीं मिला कि वेश्यावृत्ति का मतलब क्या होता है।" इस बात को सुनकर लोगों में बड़ी दिलचस्पी पैदा हुई – साथ ही बहुतों को इसकी सच्चाई में भी शक हुआ। पर जनता की तरफ़ से तमाम प्रश्नों के उठने पर भी, अमेरिका में इस विषय को तुरत-फुरत दबा दिया गया।

पाँच साल पहले, मुझे सोवियत संघ के चन्द विशेषज्ञों के साथ अनैतिकता और शराबख़ोरी की समस्या पर बातें करने का मौक़ा मिला था। उनके वक्तव्यों की ईमानदारी में भरोसा करने के सुस्पष्ट कारणों की वजह से, मैंने उनसे साफ़-साफ़ पूछा : "अच्छा बताइए वेश्यावृत्ति, व्यभिचारों, गुप्त रोगों, नौजवानों की दुराचारी प्रवृत्तियों और शराबख़ोरी आदि को सोवियत सरकार ने कैसे दूर किया था?"

वे उत्तर नहीं दे पा रहे थे। ये सोवियत नागरिक सभी नवयुवक थे। पहले-पहल उन्होंने वेश्याएँ देखी भी थीं तो न्यूयार्क और टोरोण्टो की सड़कों पर! उन्होंने साफ़-साफ़ कहा : "इन समस्याओं को सोवियत रूस में बहुत पहले हल कर लिया गया था, कम-से-कम दस बरस पहले। तब हम लोग बच्चे थे। हमें इतना तो याद आता है कि हमारे चाचा-ताऊ इस सम्बन्ध में बनाये गये नियमों पर बड़ी गरमागरम बातें किया करते थे। पर, उनका विवरण हमें याद नहीं। हम लोगों के लिए तो यह एक गुज़रे ज़माने की बात बन चुकी है।"

उन दिनों कनाडा और सोवियत रूस के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण तो नहीं थे। अनैतिकता के ख़िलाफ़ सोवियत संघ के संघर्ष की पूरी कहानी को खोद निकालने में असफल होने के बाद, पता यह चला कि अब तक अंग्रेज़ी में इस सम्बन्ध में पूरी बातें छपी ही नहीं हैं। अन्त में, व्यक्तिगत स्रोतों से कुछ बातों का विस्तार में पता चला। इन स्रोतों का सोवियत सरकार से ताल्लुक नहीं था। ये विशेषज्ञों द्वारा पेश किये गये अधिकृत तथ्य थे। जन स्वास्थ्य विभाग के जन कमिसार के गुप्त रोगों सम्बन्धी सलाहकार और यूरोप में प्रमुख माने जाने वाले वैज्ञानिक – प्रोफ़ेसर वी.एम. ब्रानर – ने वेश्यावृत्ति और गुप्त रोगों के बारे में काफ़ी सामग्री इकट्ठा की थी।

इनमें, और इनके बाद की रिपोर्टों में, मिलने वाली कथा ही इस पुस्तक की विषय-वस्तु है।

किन्तु अमेरिका, कनाडा और भारत में इस पुस्तक के जो संस्करण छपे हैं, उनसे यह संस्करण भिन्न है। उत्तरी अमेरिका के बारे में इन संस्करणों में जो बातें कही गयी थीं, वे पुरानी पड़ गयी हैं, इसलिए उन्हें हटा दिया गया है और नयी हाल की बातें जोड़ दी गयी हैं। मैं और मेरी पत्नी कुछ ही दिनों पहले सोवियत रूस गये थे। वहाँ की हालत को हमने अपनी आँखों से देखा। पुस्तक के पहले संस्करण में जो रद्दोबदल किये गये हैं, उनमें से अधिकांश का कारण यही हमारी यात्रा थी। ये नयी बातें आपको इस संस्करण में मिलेंगी।[1]

अस्तु, आगे आप जो कुछ इस पुस्तक में पढ़ेंगे, वह सरकारी दस्तावेज़ों से इकट्ठा की गयी और अपनी आँखों देखी हुई सच्चाई की निष्पक्ष रिपोर्ट ही है।

[1] इस पुस्तक का पहला अंग्रेज़ी संस्करण सितम्बर सन् 1950 में निकला था। प्रस्तुत अनुवाद उसके तीसरे संशोधित संस्करण से किया गया है, जो दिसम्बर सन् 1952 में निकला था। – प्रकाशक

बुराई के लिए पीले टिकट की व्यवस्था

आज सोवियत संघ कहलाने वाले भाग पर आधुनिक सोवियत शासन का अधिकार सन 1917 की क्रान्ति के दौरान हुआ था। देश की आर्थिक और भौतिक तबाही के साथ कम्युनिस्टों ने जिस नैतिक अध:पतन की विरासत पायी थी, वह इतनी भयानक थी कि हमें यकायक विश्वास नहीं होता। रूस में बुराई का आधार थी वेश्याओं की वह संगठित व्यवस्था, जिसे ज़ार सरकार ने पाला-पोसा और बढ़ावा दिया था। तब संसार में इस शर्मनाक व्यवस्था को कहा जाता था – 'पीले टिकट की व्यवस्था'।

ज़ार के रूस में सभी नागरिकों के पास रजिस्ट्रेशन और शिनाख़्त सम्बन्धी एक सर्टिफ़िकेट होता था जिसे आमतौर से पासपोर्ट कहते थे। असल में, आबादी पर कड़ी निगरानी रखने में इससे ज़ारशाही पुलिस को मदद मिलती थी। इस पासपोर्ट के बिना किसी एक जगह से दूसरी जगह जाना ख़तरे से ख़ाली न था। इसके बिना हर वक़्त गिरफ़्तारी का ख़तरा सिर पर मँडराता रहता था। इसलिए, यह पासपोर्ट बड़ा क़ीमती था। मानो ज़िन्दा रहने का परमिट हो! पर ऐसे लोगों की संख्या भी कम नहीं थी जिन्हें इसको वापस कर देने की इजाज़त मिल जाती थी, या वापस करने पर मजबूर होना पड़ता था। ये वे महिलाएँ थीं जो वेश्यावृत्ति को अपने जीवन का पेशा बना लेती थीं। ज़ारशाही शासन के अन्तर्गत यह पेशा राष्ट्र के लोगों के हित के लिए आवश्यक समझा जाता था। समाज में किसी महिला की स्थिति और उसकी अनैतिक कार्रवाइयों को निश्चित करने वाले थे सरकारी क़ानून।

क़ानून यह था कि वह औरत जो वेश्या का पेशा करे अपनी नागरिकता त्याग दे और उस पासपोर्ट के बदले अपनी रजिस्ट्री कराके, यह बदनाम 'पीला टिकट' हासिल कर ले। ये टिकट खुल्लमखुल्ला पुलिस अधिकारियों द्वारा बाँटे जाते थे। टिकट में लिखा रहता था कि इसे हासिल करने वाली को पुलिस के स्थानीय नियमों के अन्तर्गत वेश्या का काम करने का सरकारी लाइसेंस हासिल है। उसे

अपना धन्धा चलाने की सुविधा मिल जाती थी। पर पीले टिकट वाली महिला को नागरिक अधिकारों से वंचित रहना पड़ता था। पीला टिकट उसे मानव से नीचे दर्जे का प्राणी घोषित कर देता था। सबसे भयानक बात यह थी कि एक बार पीला टिकट ले लेने वाली महिला जीवन-भर के लिए इस बुराई में फँस जाती थी। बच निकलने का कोई रास्ता नहीं था। ज़ारशाही के अफ़सर किसी भी महिला का नागरिक टिकट लेकर उसे पीला टिकट दे देने के लिए तैयार रहते थे। पर, क़ानून इस बात की इजाज़त नहीं देता था कि वह फिर कभी अपना इरादा बदल सके। पीला टिकट उतना ही स्थायी होता था जितना कि मध्ययुग में तपे हुए लाल लोहे की सलाख़ों से चोरों के माथे पर लगाया जाने वाला दाग़।

रूस-भर में इन औरतों के रहने और काम करने के लम्बे-चौड़े नियम बना दिये गये थे। ज़रूरी नहीं कि हम उनके "काम" का यहाँ विस्तार से वर्णन करें। एक बार पेशा अख़्तियार कर लेने पर औरत को ज़िन्दगी-भर के लिए कोई भला काम करने की मनाही थी। नागरिकता के पासपोर्ट के बिना नौकरी पा सकना नामुमकिन था। ज़ारशाही हुकूमत के अन्तर्गत इस बात की क़तई कोशिश नहीं की गयी कि बदचलन औरतों और लड़कियों को सुधारा जाये; उल्टे, क़ानून के ज़रिये इस तरह की कोशिशें न करने की कड़ी ताक़ीद कर दी गयी थी। वास्तव में क़ानून का कहना था कि या तो ये तमाम औरतें इस पेशे से मजबूरन बँधी रहें या फ़ौजदारी अदालतें उन्हें कड़ी सज़ा दें।

शिष्टता के नाते, हम यहाँ ज़ारशाही के इन घिनौने नियमों का विस्तार से वर्णन नहीं करेंगे। पर इतना ज़रूर है कि इस तरह की औरतें समाज का आवश्यक अंग मानी जाती थीं। अधिकांश मुहल्लों की पीले टिकट वाली औरतों को किन्हीं ख़ास घरों में रहना पड़ता था। इन घरों को सरकारी तौर पर "व्यभिचार के अड्डे" कहा जाता था। जहाँ यह नियम नहीं था, वहाँ इनके रहने के क्षेत्र अलग थे।

बहुधा किसी बड़े मकान के दरवाज़े पर जिसमें बहुत से लोग रहते हों, नामों की तख़्ती लगी रहती थी; इस तख़्ती में बदचलन औरतों का नाम भी होता था। पर, पुलिस की ताक़ीद थी कि अपने नाम के सामने वह वेश्या शब्द ज़रूर लिखवायें। सामाजिक पतन की इससे गम्भीर दशा की कल्पना कर सकना मुश्किल है। सन 1917 की क्रान्ति के पहले, रूस-भर में बुराई को यह सामाजिक मान्यता मिली हुई थी। पेशेवर औरतें अपने नाम के सामने "वेश्या" लिखें, वास्तव में इसके पीछे एक ख़ास उद्देश्य था : कोई औरत यदि कुछ दिनों के लिए ग़रीबी की वजह से मजबूर होकर अनैतिकता के गढ़े में लुढ़क पड़े तो पुलिस और बदनाम पीले टिकट की व्यवस्था की वजह से वह किसी भी तरह उससे बाहर निकल न सके।

रूस में अनैतिकता की रोकथाम की यह व्यवस्था बहुत व्यापक पैमाने पर थी। ज़ाहिरा तौर पर, इसका उद्देश्य यह बताया जाता था कि अनैतिकता को फैलने से रोका जा रहा है। पर, इस सरकारी ढकोसले की असलियत किसी से छिपी नहीं थी। दरअसल व्यभिचार की "रोकथाम" के तमाम क़ानूनों का उद्देश्य वेश्याओं के बाज़ार के लिए काफ़ी तादाद में औरतें जुटाना ही था। इस व्यवस्था का एक ख़ास लक्षण यह भी था कि तमाम बदचलन लड़कियाँ और स्त्रियाँ अलग-अलग दर्जों में बाँट दी गयी थीं – सबसे क़ीमती, ऊँचे दर्जे की रईसों और धनी व्यापारियों के लिए कम उम्र और आकर्षक लड़कियों से लेकर सबसे नीचे दर्जे की चोरों और जुआरियों के मुहल्लों में बसने वालियों तक सभी पीली टिकट वाली औरतें क़ानूनी तौर पर पुलिस की निगरानी में रहती थीं। व्यवस्था इस बात की भी थी कि समय-समय पर उनकी डॉक्टरी परीक्षा की जाये और उनके रहने के स्थानों की पुलिस समय-समय पर तलाशी लेती रहे। किन्तु, अमल में इससे ऊँचे दर्जे के ग्राहकों को असुविधा होती थी। इसलिए पुलिस इन प्रभावशाली लोगों के कोप से बचने के लिए ज़्यादातर नीचे दर्जे वाली वेश्याओं को ही तंग किया करती थी।

इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप व्यभिचार ने जो रूप धारण किया उस पर सहसा विश्वास नहीं होता। व्यभिचार के इन अड्डों पर कभी-कभी औरतों की कमी पड़ जाती। या फ़ौजी अधिकारी शिकायत करते कि फ़ौजी दस्तों में गर्मी का रोग फैल गया है। तब क़ानून की पाबन्दी के नाम पर, पुलिस लगातार छापे मारने लगती। मज़दूर बस्तियों की तमाम सड़कों, मकानों और मनोरंजन के स्थानों की अन्धाधुन्ध तलाशियाँ ली जातीं। पेशेवर वेश्याओं को गिरफ़्तार करने के साथ कुछ दूसरी, सुन्दर, अच्छे घरानों की लड़कियों को भी गिरफ़्तार कर लिया जाता। इन बेगुनाह लड़कियों को अदालतों में पेश किया जाता और उन पर बिना पीला टिकट लिये पेशा करने का आरोप लगाया जाता। इस गुनाह का जुर्माना होता 500 रूबल। इतनी बड़ी रक़म मुश्किल से ही कभी कोई दे पाती। लिहाज़ा, क़ानून में दूसरा बन्दोबस्त था। अपराधी नागरिकता का पासपोर्ट वापस कर दे और पीला टिकट ले ले। ये छापे इतनी होशियारी से मारे जाते थे कि पुलिस अफ़सर असली वेश्याओं और नयी लड़कियों के अलावा, ग़रीब किन्तु सम्मान-प्राप्त महिलाओं को भी पकड़ लाते थे। कभी-कभी इनमें वे औरतें भी शामिल होतीं, जिनकी गोदी में नन्हे-नन्हे बच्चे होते या जो गर्भवती होतीं। मजिस्ट्रेट तक़रीबन सभी को बड़ी उदारता से रिहा कर देता था। अगर नहीं रिहा किया जाता तो सिर्फ़ उन औरतों को जिन्हें फाँसना होता था। इस तरह "औरतें इकट्ठा करने" की पुलिस की इस घृणास्पद कार्यवाही को क़ानूनी जामा पहना दिया जाता था।

ध्यान देने की बात है कि ज़ारशाही अदालतों में औरतों की स्थिति बहुत नाज़ुक थी। यूँ तो यह आमतौर से सभी औरतों के लिए सही है पर जो अनैतिकता से जीवन बसर करतीं, उनकी हालत तो बहुत ख़राब थी। काउण्ट तोल्सतोय के उपन्यास **रिसरक्शन** ("पुनरुत्थान") में भी एक ऐसी नारी का हृदय विदारक चित्रण है, जो व्यभिचार के जाल में फँस जाती है। तोल्सतोय ने दिखाया है कि किस तरह एक सामन्ती उच्च वर्ग का सदस्य भी ज़ारशाही के अफ़सरों द्वारा स्त्रियों पर किये जाने वाले इस निर्मम अत्याचार के विरुद्ध कुछ भी कर सकने में असमर्थ रहा। सच पूछिए तो पीला टिकट नर्क का टिकट था। ऐसी महिलाओं को पुलिस की निगरानी से बचने की इजाज़त क़ानून सिर्फ़ दो सूरतों में देता था। पहली : कोई ऐसी अचानक बीमारी लग गयी हो कि वह आदमी के काम की न रह गयी हो; दूसरी : मौत।

इन हालतों में गुप्त रोग फैल रहे थे। तोल्सतोय जैसे उपन्यासकारों की रचनाओं से उत्तेजित होकर, और उच्च वर्ग के लोगों में गर्मी के बढ़ने से घबराकर, कभी-कभी प्रतिष्ठित चिकित्सक लोग ज़ार के क़ानून की रोग सम्बन्धी धाराओं के सख़्ती से लागू किये जाने की माँग उठाते। नये क़ानून पास होते। नया आन्दोलन शुरू करने का ढोंग रचा जाता। मामलों की जाँच-पड़ताल के लिए पुलिस द्वारा रखे गये डॉक्टरों के वेतन की दर, जाँच-पड़ताल किये जाने वाले लोगों की संख्या के अनुसार होती। कभी-कभी डॉक्टर निरा नौसिखिया होता था। या फिर डॉक्टरों का एक दल बैठाया जाता और हरेक डॉक्टर को अलग-अलग तनख़्वाह दी जाती। पुलिस उनके सामने कभी-कभी प्रति घण्टे चार-चार सौ के हिसाब से औरतें परीक्षा के लिए घेर लाती। बिना कपड़े उतरवाये ही उनकी जाँच-पड़ताल पूरी हो जाती। ज़ाहिर है, यह जाँच-पड़ताल सिर्फ़ नाममात्र की होती थी। और, चूँकि कोई ख़ौफ़नाक मर्ज़ पकड़े जाने पर इन औरतों को इलाज के लिए बहुत बड़ी रक़म ख़र्च करने का डर रहता था, इसलिए उन्होंने बचाव का सीधा रास्ता निकाल लिया था : वे पहले ही पुलिस और डॉक्टरों की जेबें गरम कर देती थीं।

इसका मतलब यह नहीं कि पीले टिकट की इस घृणित व्यवस्था का अन्त करने के लिए रूसी चिकित्सा विशेषज्ञों ने कोई उपाय करने की कोशिश ही नहीं की। दरअसल, क्रान्ति से पहले के रूस में उन सभी "उपायों' को जाँचा और परखा जा चुका था, जिन्हें हमारे आधुनिक विशेषज्ञ अब खोज रहे हैं। पर, वे विशेषज्ञ इस नतीजे पर पहुँचे थे कि ये सभी उपाय ढकोसला मात्र हैं जो असल समस्या से कतराते हैं। आज से तीस वर्ष पहले डॉ. अब्राहम फ़्लैक्सनर की पुस्तक **यूरोप में वेश्यावृत्ति** प्रकाशित हुई थी। इस विषय से सम्बन्धित तमाम दलीलें

इस पुस्तक में पेश की जा चुकी हैं। फ़्लैक्सनर की अकाट्य दलील थी कि वेश्यावृत्ति की रोक-थाम की तमाम कोशिशें मूर्खता के अलावा और कुछ नहीं हैं। उनका कहना था कि एक लम्बे अरसे तक के लिए गुप्त रोगों की बढ़ती को न तो वेश्याओं को अलग बसाकर और न वेश्याओं का दमन करके रोका जा सकता है। व्यभिचारिणी औरतों और उनके ग्राहकों की डॉक्टरी जाँच-पड़ताल तब तक नामुमकिन थी, जब तक तमाम डॉक्टरों की अच्छी-ख़ासी फ़ौज न खड़ी कर ली जाये। ख़ून की जाँच और दवा-दारू के ज़रिये गर्मी और सूज़ाक को रोकने के लिए कम-से-कम उतने शफ़ाख़ानों की ज़रूरत थी जितने कि वहाँ गैस बत्तियों के स्टेशन थे।

गुप्त रोगों के बारे में इस असलियत को ज़ार-सरकार के अधिकारी अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने न तो कुछ किया, न कुछ कर ही सकते थे। वे यह भी जानते थे कि व्यभिचार पर किसी तरह के सरकारी नियन्त्रण का नतीजा यही होगा कि शासन-संस्थाओं में भ्रष्टाचार बढ़ेगा। इसलिए, इस भ्रष्टाचार को उन्होंने क़ानूनी दर्जा दे दिया। पीले टिकट की व्यवस्था के अन्तर्गत अपना पेशा चला सकने की सुविधा के बदले प्रत्येक वेश्या अपनी आमदनी का एक हिस्सा ज़िलाधीश या दूसरे सरकारी अफ़सरों को देती थी।

आज शायद हम यह सब बर्दाश्त न करें। पर, एक बात में सन 1917 के रूस और हमारे यहाँ अनैतिकता की समस्या एक सी है। अनैतिकता बढ़ती पर थी। ज़ारशाही हुकूमत के न्याय-विभाग के सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़, पहले महायुद्ध से पहले के 20 सालों में व्यभिचार और अपराध लगातार बढ़ती पर थे। हत्याओं और हिंसात्मक अपराधों में पचास फ़ीसदी वृद्धि हो गयी थी। इससे भी तिगुनी तेज़ी से यौन-अपराधों में वृद्धि हुई। पीले टिकट की व्यवस्था से ये अपराध घटे नहीं। उल्टे, इस व्यवस्था के फैलाव के अनुपात में ही इनमें भी वृद्धि हुई। सन 1913 में, अकेले सेण्ट पीटर्सबर्ग (अब लेनिनग्राद) में, सरकारी लाइसेंस प्राप्त अनैतिक महिलाओं की संख्या 60 हज़ार थी। दुराचारों के साथ ही पियक्कड़ों, ख़ासतौर से नौजवान पियक्कड़ों की संख्या में भी बेतहाशा वृद्धि हुई थी। दस साल के अन्दर ही नवयुवक दुराचारियों की संख्या दुगनी हो गयी थी – हालाँकि ज़ारशाही अदालतें गम्भीर अपराध करने वाले नवयुवकों के मामले ही लेती थीं, उनके आँकड़ों में नयी उम्र वालों के दुराचार को नहीं गिना जाता था। क्रान्ति से ठीक पहले, हर 10 में से 8 रूसी वेश्याएँ 21 साल से कम उम्र की थीं। आधी से ज़्यादा ऐसी थीं जिन्होंने अट्ठारह साल की उम्र पर पहुँचने से पहले ही इस पेशे को अपना लिया था। हर दस में से चार ऐसी थीं जिन्होंने 16 वर्ष की उम्र से अनैतिक जीवन शुरू कर दिया था और तमाम तो चौदह साल की

होने से पहले ही आवारा बन गयी थीं।

इन तथ्यों को यह कहकर टाला नहीं जा सकता कि ज़ारशाही में तो लोगों को मानव नहीं बल्कि पशु का जीवन बिताना पड़ता था। आज ऐसे ही तथ्य हमारे देशों में भी मौजूद हैं। हमारी "विक्ट्री गर्ल" भी नयी उम्र की ही लड़की होती है। सामाजिक इतिहास बताता है कि जब कभी भी नैतिक पतन बढ़ता है, तो कम उम्र वाले दुराचारियों की संख्या भी बढ़ जाती है।

इधर कुछ दिनों से हमारी चिन्ता और भी बढ़ गयी है। डॉक्टरों ने अपनी कोशिशें दुगनी कर दी हैं। पुरोहित-पादरी उपदेश और चेतावनियाँ दे रहे हैं। राजनीतिक नेता विशेषज्ञों की कमेटियाँ बैठा रहे हैं। यही सब सन 1910 में भी हुआ था, जब साम्राज्य में अनाचार और अपराधों की बढ़ती से घबराकर लोगों ने ज़ार सरकार पर भारी दबाव डाला था कि वह इन्हें रोके। उच्च वर्ग के ईमानदार सदस्यों और सम्मान प्राप्त पेशे के लोगों को विदेशी आगन्तुकों के सामने लज्जा से सर झुका लेना पड़ता था, जब वे बिना किसी हिचकके यह बताते कि तमाम सभ्य लोगों को 'पीले टिकट की व्यवस्था' कितनी घिनौनी मालूम होती है। क्रान्ति से सात साल पहले, सुधारों के आन्दोलन ने इतना ज़ोर पकड़ा था कि तमाम अनाचार के खिलाफ़ संगठित रूप से संघर्ष चलाने के मक़सद से ज़ार को एक कांग्रेस बुलानी पड़ी थी। इस कांग्रेस में बहस का मुख्य विषय था – अनाचार सम्बन्धी "क़ानूनों का अन्त करना", अर्थात सरकार द्वारा अनाचार का नियन्त्रण बन्द करना। रूस के मज़दूर संगठनों ने भी इस कांग्रेस को इतना महत्व दिया था कि इसमें उन्होंने अपने कुछ नुमाइन्दे भेजे थे। पुलिस के दमन के बावजूद, इन प्रतिनिधियों की बात सुनी गयी थी। उनकी बातें बहुत ही संक्षिप्त थीं। उन्होंने ज़ारशाही समाज-व्यवस्था की वे धज्जियाँ उड़ायीं कि सुनने वाले मुँह बाये रह गये। उन्होंने ज़ारशाही के आर्थिक और राजनीतिक भ्रष्टाचार को ही अनैतिकता की बढ़ती का मूल कारण घोषित किया था और भविष्यवाणी की थी कि उसके रहते वेश्यावृत्ति और गुप्त रोगों की समस्या को हल करने का शासक वर्ग का हर प्रयत्न असफल होगा।

वाद-विवाद में इस भविष्यवाणी पर विचार-विनिमय नहीं हुआ था। डर था, वैसा करने पर कहीं समूची कांग्रेस को ही साइबेरिया की जेलों की हवा न खानी पड़े। अस्तु, जीत पुलिस अधिकारियों की ही हुई। उनका कहना था कि दूसरे देशों के अनियन्त्रित अनाचार के मुक़ाबले 'पीले टिकट की व्यवस्था' कहीं उत्तम थी। उनकी दलील थी, "भले घरानों" की बहू-बेटियों पर अनैतिकता का असर पड़े, उससे कहीं अच्छा था कि "निचले वर्गों" की हज़ारों-लाखों औरतें ज़िन्दगी-भर के लिए अनाचार का पेशा करती रहें। पर उनकी लम्बी-चौड़ी और टालू दलीलें

धृष्टता भरे कुछ शब्दों के अलावा और कुछ नहीं थीं। रूसी साम्राज्य में चूँकि अनाचार को लगातार और सरकारी तौर पर फलने-फूलने की पूरी छूट थी, इसलिए सरकार के लिए वह बड़े फ़ायदे की चीज़ थी। असलियत तो यह है कि अनाचार की "रोक-थाम" के नाम पर जो लम्बी-चौड़ी रक़में रूसी महिलाओं से क़ानून के बल पर ऐंठी जाती थीं, वे ज़ारशाही की भ्रष्ट हुकूमत के पेट में पहुँच जाती थीं। ज़ारशाही चूँकि पुलिस की तानाशाही पर क़ायम थी, इसलिए उच्च अधिकारियों ने वेश्यावृत्ति से होने वाली आमदनी को रोकना ठीक न समझा। इस तरह, क़ानूनों का अन्त करने के लिए बुलायी गयी कांग्रेस का अन्त अनाचार का पेशा करने वाली, "निचले वर्गों" की औरतों की भयानक अनैतिकता के बारे में ढोंग भरे फ़ैसलों में हुआ था। गिरजाधीशों ने इन फ़ैसलों को अपना 'जड़मतिवादी' आशीर्वाद भी दे दिया कि मनुष्य की पाप प्रवृत्ति तो सनातन है!

संक्षेप में, कांग्रेस ने इस सिद्धान्त को मान लिया कि अनैतिकता तब तक क़ायम रहेगी जब तक इन्सान धरती पर है – मौजूद है। और अनैतिकता फैलाने की ज़िम्मेदार औरतें ही हैं।

इस सम्बन्ध में, हमें यहाँ उस वाद-विवाद पर भी ग़ौर करना चाहिए जो कुछ दिनों से अमेरिका में चल रहा है। वाद-विवाद इस धारणा को लेकर है कि सामाजिक समस्या के रूप में गुप्त रोग को भी दो जातियों में रखा जा सकता है। काली और गोरी। कॉर्नेल यूनिवर्सिटी मेडिकल कॉलेज के 'पब्लिक प्रिवेण्टिव मेडिसिन विभाग' के सुप्रसिद्ध सदस्य डॉक्टर डब्ल्यू. जी. स्मिली ने 'अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन' के (जून सन 1943 के) **जर्नल** में एक महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया। अमेरिकी फ़ौज के कुछ चुने हुए गर्मी के मरीजों के बारे में अपनी परीक्षाओं का ज़िक्र करते हुए, उन्होंने कहा :

"ये तथ्य बताते हैं कि गर्मी की बढ़ती को रोकने के लिए अमेरिका में जितना प्रचार हुआ है, वह बहुत ही ग़लत रहा है। कहावत मशहूर है : हर दस में से एक आदमी को गर्मी होगी। पर, यह झूठ है। हमारे देश के अधिकांश भाग में गोरे आदमियों को गर्मी बहुत कम है; जिन लोगों को है भी, वे अधिकतर गोरी जाति के सबसे निचले वर्ग के हैं। गोरे लोगों में अधिकांश के लिए गर्मी अज्ञानियों, लापरवाहों, अपराधियों और समाज से बहिष्कृत लोगों की ही बीमारी है। वास्तव में, यह एक सामाजिक बीमारी है।"

इसके बाद, डॉ. स्मिली ने नीग्रो हब्शी लोगों के बीच गर्मी के रोग का ज़िक्र किया : "चूँकि गोरों के मुक़ाबले नीग्रो लोगों में गर्मी दस गुनी से भी ज़्यादा है, इसलिए शासकों को अपनी योजनाओं में उन लोगों के बीच गर्मी को रोकने का

कम-से-कम दस गुना ज़्यादा प्रबन्ध करना चाहिए। इन प्रयत्नों के फलस्वरूप गोरे लोगों में भी गर्मी के रोग की कमी हो जायेगी।"

इस तर्क को नीग्रो लोगों पर एक आक्रमण भी माना जा सकता था, क्योंकि इसमें आम नीग्रो लोगों के साथ अज्ञानी, लापरवाह, अपराधी और समाज से बहिष्कृत गोरों का ज़िक्र किया गया है, मानो दोनों समान हों। ख़ैर, हम डॉ. स्मिली के इरादे कुछ और ही माने लेते हैं। यही सही कि वह आँकड़ों के आधार पर पेश किये गये एक अकाट्य तथ्य की ओर डॉक्टरों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। वह आगे कहते हैं :

"सरकारी स्वास्थ्य विभाग के अधिकारियों के बीच एक यह प्रवृत्ति रही है कि नीग्रो लोगों में गर्मी की अधिकता को या तो नज़रन्दाज़ करें या उसकी ओर ध्यान ही न दें ...जितनी ही जल्दी इस सत्य को मानकर हालत क़ाबू में लाने के लिए उचित क़दम उठाये जायेंगे उतना ही नीग्रो जाति तथा समूचे राष्ट्र के स्वास्थ्य के लिए हितकर होगा।"

इन डॉक्टर महोदय का उद्देश्य तो निस्सन्देह प्रशंसनीय है; पर वह, और ऊपरी तौर से सही लगने वाले उनके तर्क का समर्थन करने वाले दूसरे लोग, उन सरकारी अधिकारियों से कहीं बड़े अपराध के भागी हैं जिनकी आलोचना की गयी है। यह दलील तथ्यों को इस तरह नज़रन्दाज़ करती है कि वैज्ञानिक के लिए अक्षम्य है। यह यथार्थ को नज़रन्दाज़ करती है।

गोरों के मुक़ाबले नीग्रो लोगों में रोग की बढ़ती इतनी ज़्यादा है – **क्यों?** क्या इसका कारण, जैसा डॉ. स्मिली ने बताया है, जाति भेद है? गोरों में भी 'समाज से बहिष्कृत गोरों' पर ही गुप्त रोगों का हमला अधिक **क्यों** होता है?

किसी भी अनुभवी समाज-सेवी के लिए इसका उत्तर सहज ही है। नीग्रो लोगों के बीच गर्मी को जो नज़रन्दाज़ किया गया है, उसकी एक ख़ास वजह है। वजह है : सच्चाई सामने लाने पर कि नीग्रो लोगों को अमेरिका में कैसा जीवन बिताना पड़ता है, इसकी असलियत खुल जायेगी। अमेरिका के बहुसंख्यक नीग्रो आर्थिक और राजनीतिक उत्पीड़न की चक्की में पिस रहे हैं। यह उत्पीड़न ज़ारशाही उत्पीड़न से किसी भी बात में कम नहीं है। नीग्रो लोगों और "समाज से बहिष्कृत" गोरों में गर्मी के रोग की अधिकता, "दोनों", की वजह एक ही है। इस वजह का जाति-भेद से कोई सम्बन्ध नहीं। वजह है : ग़रीबी।

डॉ. स्मिली इस नग्न सत्य पर नम्र आँकड़ों और "तथ्यों" का पर्दा डाल रहे हैं, ठीक उन लोगों की तरह जो जानबूझकर या अनजाने ही अनैतिकता की बुनियादी सच्चाइयों को छिपाना चाहते हैं। डॉ. स्मिली कहते हैं, "गर्मी वास्तव में एक सामाजिक बीमारी है।" इसका मतलब क्या है? जो भी आप चाहे लगा

लें! आर्थिक मन्दी के दिनों में भी ऐसे ही वाक्यों का प्रयोग किया जाता था। इन वाक्यों का प्रयोग करने वाले वे तथाकथित वैज्ञानिक थे जो बेरोज़गार लोगों के मामले की जाँच-पड़ताल में तटस्थता का दावा करते थे। और, सरकार से बेरोज़गारी के दिनों में सहायता के रूप में कुछ पेंशन पाने वाले बड़े नक्कू शाह बनकर, समाजशास्त्र के इन "अध्येताओं" ने दावा किया था कि "बेरोजगारी वास्तव में एक सामाजिक घटना है।" उन्होंने हास्यास्पद सिद्धान्त गढ़े कि कितनी तरह के लोग "बेरोज़गार" हो सकते हैं। और इस तरह उन्होंने प्रतिक्रियावादियों की कुचालों का ही साथ दिया, जो अपने तथाकथित "विज्ञान" के बल पर हूवरवाद की तरह कहने लगे : "जिसमें शक्ति होगी, वह बेरोज़गार नहीं रह सकता। कामचोर लोग ही सरकार से बेरोज़गारी-भत्ता चाहते हैं!"

निस्सन्देह, गर्मी एक सामाजिक बीमारी है। इसी तरह वेश्यावृत्ति भी सामाजिक बुराई है। इसका अर्थ यह है कि अनैतिकता और उससे सम्बन्धित तमाम समस्याओं की जड़ समाज की बुनियादी खराबियों में है। अमेरिका के नीग्रो लोगों के साथ-साथ अपराधी और समाज से बहिष्कृत गोरों को जोड़कर डॉ. स्मिली ने वैज्ञानिक तथ्यों की सीमा को भंग किया है। और इस तरह जाने या बिना जाने, उन्होंने जातियों के बीच नफ़रत फैलाने वालों के हाथ में एक शक्तिशाली हथियार सौंप दिया है। गर्मी की समस्या का ऐसा "विश्लेषण" और भी कुत्सित हो जाता है, क्योंकि इस बीमारी का सम्बन्ध इन्द्रियों से है। और, यह सफ़ेद झूठ कि नीग्रो जाति गोरी जाति से कम नैतिक होती है, नीग्रो-विरोधी प्रचार की आधार-शिला है। इसको लेकर दक्षिण अमेरिका के फासिस्ट गोरे, नीग्रो लोगों पर वहशियाना हमलों का आयोजन करते हैं। दक्षिण अमेरिका में नीग्रो और गोरों के बीच नैतिकता की समस्या नीग्रो जाति से नहीं, बल्कि उन पर थोपे जाने वाले अमानुषिक दमन से पैदा होती है। यह दमन कालों और गोरों, दोनों को ही, पस्तहिम्मती के गढ़े में ढकेल देता है। पर डॉ. स्मिली तो हमसे यह मनवाने पर तुले हैं कि नीग्रो लोगों को गर्मी से बरी कर देने पर गोरे भी उससे मुक्त हो जायेंगे। मतलब यह कि गोरों में गर्मी का रोग फैलाने की ज़िम्मेदारी नीग्रो लोगों पर ही है। ये विचार, किसी दूसरे से नहीं, गोयबेल्स और उसके छुटभैयों से ही उधार लिये गये हैं।

तो, इस 'सामाजिक बीमारी" का दूसरे देशों में रूप क्या है?

कनाडा में, जहाँ नीग्रो आबादी बहुत कम है और जहाँ अमेरिका के मुक़ाबले गोरों और कालों के बीच आर्थिक भेदभाव बहुत कम है, उनमें गर्मी के रोग की बढ़ती का अन्दाज़ा कभी अलग-अलग आँकड़ों के आधार पर नहीं लगाया गया है। मैंने कनाडा के डॉक्टरों और सामाजिक कार्यकर्ताओं से इस सम्बन्ध में

पूछताछ की है। कनाडा का औसत नीग्रो ग़रीब ज़रूर है, लेकिन दरिद्रता से यह इतना ज़्यादा पीड़ित नहीं है जितने कि अमेरिका के लाखों नीग्रो परिवार। रही गुप्त रोगों की बात, सो कनाडा के गोरों और नीग्रो लोगों में कोई ख़ास अन्तर नहीं दिखायी पड़ता।

परन्तु रेड इण्डियनों में ज़रूर उन ज़िलों में गर्मी का रोग बहुत ज़्यादा है, जहाँ शोषण ज़्यादा है। तपेदिक के बारे में कनाडा के आँकड़े और भी दिलचस्प हैं। इस बीमारी को लेकर कनाडा के अधिकारियों ने बहुत पहले से ही गोरों और रेड इण्डियनों के बीच भेद बना रखा है। गोरों के मुक़ाबले, इण्डियनों में तपेदिक के मरीजों की संख्या बहुत ज़्यादा है। कनाडा के अधिकारी सच्चाई को नज़रन्दाज़ करने के अपराधी नहीं हैं। उनका इस सिद्धान्त में तनिक भी विश्वास नहीं है कि तपेदिक का मर्ज़ गोरों की बजाय इण्डियनों को ज़्यादा सताता है, "क्योंकि वे इण्डियन हैं।" वे मानते हैं कि तपेदिक एक "सामाजिक बीमारी" है। पर वे इसके "सामाजिक" होने का कारण इस मर्ज़ से पीड़ितों की असहनीय दरिद्रता और इस दरिद्रता के सहायक गन्दे भोजन, गन्दे मकान, शिक्षा और चिकित्सा की कमी आदि को ही बताते हैं। कनाडा के विभिन्न क्षेत्रों में रेड इण्डियनों में भी तपेदिक के मरीजों की संख्या भिन्न-भिन्न है। डॉ. ई.एल. रौस तथा ए.एल. पेन की हाल की जाँच-पड़ताल से पता चला है कि रेड इण्डियनों के ही रहने के ख़ास संरक्षित क्षेत्रों के आस-पास तो तपेदिक से मरने वाले इण्डियनों की संख्या गोरों के मुक़ाबले बीस गुनी ज़्यादा है। वैसे, औसत संख्या दस गुनी से ज़्यादा है।

इन डॉक्टरों ने अपना मत निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है : "आम तौर से कहा जाता है कि रेड इण्डियनों के शरीर में तपेदिक के मर्ज़ को दूर रखने की क्षमता बहुत कम होती है। पर, यह जानना काफ़ी दिलचस्प है कि उनमें से तमाम रोगी स्वस्थ हो जाते हैं। यदि इण्डियनों को गोरों के बराबर सुविधाएँ मिलें, तो उनका भी तपेदिक से बचाव हो सकता है। उन पर दवाइयाँ उतनी ही कारगर साबित होती हैं, जितनी गोरों पर।" कनाडा के रेड इण्डियनों पर सरकार द्वारा लादी गयी ग़रीबी, गन्दगी और अज्ञान का जो वर्णन इन डॉक्टरों ने किया है, उसे पढ़कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

अमेरिका में नीग्रो लोगों के बीच गर्मी के मरीजों की संख्या गोरों से दस गुनी ज़्यादा है। कनाडा में इण्डियनों के बीच टी.बी. के मरीजों की संख्या गोरों के मुक़ाबले दस से बीस गुनी तक अधिक है। दोनों ही रोग वास्तव में सामाजिक रोग हैं। इसका अर्थ सचमुच स्पष्ट है।

अर्थ यह है कि अमेरिका के नीग्रो और कनाडा के रेड इण्डियन अपने-अपने देशों में समाज के एक ही स्तर पर हैं। वे अपने-अपने यहाँ के "सबसे निचले

वर्गों" के लोग हैं। दोनों ही आर्थिक खाई की तलहटी में पड़े रहने को मजबूर हैं। बड़ी से बड़ी सूझ-बूझ वाले योजनाकारों के द्वारा बनाये गये तपेदिक और गुप्त रोगों के शफ़ाख़ाने भी इस सामाजिक सत्य को अनदेखा नहीं कर सकते!

लगभग एक पीढ़ी पहले, वेश्यावृत्ति सम्बन्धी कांग्रेस के मौक़े पर, रूस के मज़दूर कार्यकर्ताओं ने उस समय उनके देश में पाये जाने वाले इसी सत्य को पेश करने की कोशिश की थी, पर, ज़ार के साम्राज्य में नीग्रो जैसे दूसरी जाति के लोग नहीं बसते थे – जिनको बलि का बकरा बनाया जाता और सत्य पर पर्दा डाला जाता। कांग्रेस के संचालकों ने सामाजिक रोगों के आर्थिक पहलू पर विचार करने से ही इन्कार कर दिया था। दोनों हाथ उठाकर वे चीख़ पड़े थे : "निचले वर्ग" की औरतें और मनुष्य की सनातन पाप-वृत्ति ही इसका कारण हैं!

गोर्की के शब्दों में कहा जाये तो ज़ारशाही और उसके समर्थक मरी मछलियों की तरह दिमाग़ की ओर से नीचे को सड़ रहे थे।

बन्धनरहित प्रेम और वैज्ञानिक नैतिकता

1917 की नवम्बर क्रान्ति ने ज़ारकालीन जीवन की असलियत को उघाड़कर रख दिया। लड़खड़ाती हुई अर्धसामन्ती व्यवस्था को उसने चूर-चूर कर दिया। सदियों से प्रतिष्ठित, मगर खोखले, रीति-रिवाज़ों को उसने उखाड़ फेंका। कुछ दिनों के लिए तो उसने रूस की दीर्घकालीन आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक विषमता को और भी ज़्यादा बढ़ा दिया। सोवियत सरकार अनैतिकता पर कारगर हमला बोलने में कुछ दिन तक तो एकदम असमर्थ रही।

पर क्रान्ति के आरम्भ काल से कम्युनिस्ट नेता मानते चले आये थे कि कोई भी समाज-व्यवस्था जो सबको सच्ची आज़ादी देने की बात करे, ऐसी नैतिकता को बर्दाश्त नहीं कर सकती जिसकी आधार-शिला असंख्य औरतों की गुलामी हो। जहाँ भी सोवियत सत्ता क़ायम हुई, शासन प्रबन्ध की बागडोर पुलिस के हाथों से जनता के हाथों में आती गयी। पहला जो क़ानून पास किया गया, वह यह था कि पीले टिकट की व्यवस्था का अन्त किया जाये। 1917 के बाद रूस की व्यभिचारिणी स्त्रियों ने अधिकारियों को नज़राने देना बन्द कर दिया। यह परिवर्तन अवश्यम्भावी था। क्रान्ति को सफल बनाने का श्रेय संगठित मज़दूर वर्ग को था। इस क्रान्ति का लक्ष्य भी मज़दूर-वर्ग का हित ही था। ग़रीब किसान भी इस क्रान्ति के समर्थक थे। और चूँकि रूस की बहुसंख्यक वेश्याएँ गाँवों और क़स्बों की निर्धन औरतें थीं, इसलिए नयी सरकार कैसे असहायों के अमानुषिक शोषण के जारी रहने को सहन कर सकती थी? अत: उसने इस शोषण को बन्द करने का प्रण किया।

इस प्रकार, पीले कार्ड की व्यवस्था का अन्त हुआ। सभी महिलाओं को नागरिकता का हक़ मिला। पर यह सब केवल भावनामूलक था। क्रान्तिकारियों के बीच कुछ ऐसे राजनीतिक आदर्शवादी भी मौजूद थे जो कहते थे कि अनैतिक स्त्रियों को, उनके नेक पड़ोसियों के समान ही वोट डालने का अधिकार दे देने का अर्थ होगा उन्हें मनुष्योचित आत्मसम्मान प्राप्त हो जाना। लेकिन उनका यह

भ्रम टूटने में अधिक दिन नहीं लगे। पुरानी राज्य व्यवस्था के पतन के बाद रूसी जीवन में जो अस्तव्यस्तता एक लम्बे काल तक रही उसके भयंकर परिणाम सामने आये – व्यभिचार व दुराचार अनेक रूपों में प्रकट हुए, अल्प-वयस्क वेश्यावृत्ति भी बढ़ी; दरअसल नवम्बर की घटनाओं के बाद तो ये चीज़ें अपनी चरम सीमा तक पहुँच गयीं।

यह पता लगते देर न लगी कि क्रान्ति ने जिस स्वाधीनता को जन्म दिया था, उसके भिन्न-भिन्न और अजीबोग़रीब अर्थ लगाये जा रहे थे। कम्युनिस्ट नारा कहता था : "तुम्हें अपनी बेड़ियों के अलावा इस क्रान्ति से और कुछ नहीं खोना है।" कार्ल मार्क्स का यह प्रसिद्ध नारा वास्तव में आर्थिक शोषण की बेड़ियों के बारे में था। अनेक रूसियों ने, विशेष रूप से नवयुवकों और बुद्धिजीवियों ने, इस नारे का अर्थ लगाया : "तुम्हें प्रतिबन्धों के अलावा इस क्रान्ति से और कुछ नहीं खोना है।" इन लोगों ने सोचा कि ज़ारशाही के ध्वंस के साथ पूँजीवादी सदाचार सम्बन्धी नियमों को उखाड़ फेंकना भी अच्छा होगा।

जैसा कि वे सोचते थे – चुटकी बजाते ही लेनिन ऐसा समाजवादी समाज क़ायम कर देंगे जिसमें हाथ-भर बढ़ाना होगा कि हर चीज़ स्वयं मुट्ठी में आ जायेगी। तदनुसार उन्होंने रूसी महिलाओं और बालिकाओं को यह समझाना शुरू किया कि प्रेम की समस्या उतनी ही आसान है जितना खाना और पीना।

'बन्धनरहित प्रेम!' का यह सिद्धान्त निस्सन्देह बहुत पुराना है। आज भी हमारे बहुत से नवयुवक इस सिद्धान्त के हामी हैं। लफ़्फ़ाजी से रंगा-चुना यह सिद्धान्त कुछ रूसियों को भी बहुत भाया। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला कि व्यभिचार को समाप्त करने का एकमात्र उपाय है यौन-सम्बन्धी तमाम प्रतिबन्धों को ख़त्म कर देना।

अनैतिकता के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण निहायत बेतुके ढंग से पेश किया जाने लगा। यह ढंग देखने में बहुत सीधा-सादा मालूम पड़ता था : "जब भूख लगे तब खाना खा लो, जब प्यास लगे तब पानी पी लो; इसी तरह जब काम सम्बन्धी इच्छा जगे, तब जो मिले उससे प्रेम कर लो। अनैतिकता के लिए फिर स्थान कहाँ!" परन्तु यह कहते समय इन लोगों ने यह सोचने की क़तई ज़रूरत न समझी कि इससे तो नैतिकता के ही ख़त्म हो जाने की सम्भावना है।

अधिकांश रूसी बुद्धिजीवी नैतिकता सम्बन्धी हर बात को पूँजीवादी गुलामी कहना पसन्द करते थे। वे सोचते थे कि ज़ारकालीन जीवन का यह ऐसा पक्ष है जिसे नयी समाज-व्यवस्था से सहज ही मिटाया जा सकता है। इन लोगों को न तो ज़ारशाही समाज-व्यवस्था से कोई दिलचस्पी थी और न सोवियत समाज-व्यवस्था से। वे तो केवल मज़दूर वर्ग और किसान औरतों का "उद्धार" करना चाहते थे।

यह तो थी उनकी कथनी। पर उनकी करनी दूसरी ही थी। उनकी इच्छा थी कि प्रेम-सम्बन्धों से हर किस्म का बन्धन हटा लिया जाये। स्वप्नलोक में विचरने वाले कवियों से इस बात को छीन लीजिए और परखिये इस नैतिकता सम्बन्धी कसौटी पर। देखिए, आपको क्या दिखायी पड़ता है। आपको दिखायी पड़ेगा : सब स्त्रियों के लिए प्रतिबन्धहीन वेश्यावृत्ति।

सोवियत नेताओं के सिद्धान्तों और कार्यक्रम में इस 'बन्धनहीन प्रेम' के लिए कोई स्थान नहीं था। उल्टे, सोवियत नेता जानते थे कि व्यक्तिगत स्वाधीनता की आड़ में नैतिकता सम्बन्धी सिद्धान्तों का नाश समाजवादी प्रगति के आड़े आयेगा। वे यह भी देखते थे कि सोवियत सत्ता को उखाड़ फेंकने की तैयारियाँ करने वाली वैदेशिक ताक़तें प्रेम की इस स्वाधीनता का ढोल पीट रही हैं और प्रचार कर रही हैं कि रूस में तो "औरतों का समाजीकरण" हो गया है। उस समय का सोवियत-विरोधी प्रचार यह तान अलाप रहा था : बोल्शेविक नेताओं की नीति तो यह है कि कोई भी मर्द किसी भी औरत को इस्तेमाल कर सकता है; कि "एक की बीवी बहुतों की बीवी" है; कि रूस से विवाह प्रथा को उठा ही दिया गया है; कि बच्चों को सरकारी अस्पतालों में बिना उनके माँ-बाप का पता बताये पाला जाता है, इत्यादि-इत्यादि।

मैक्सिम गोर्की, जो अपने जीवनकाल में ज़ारशाही ढोंग-ढकोसले के पक्के विरोधी और शोषित जनता के सदा समर्थक रहे थे, कुछ दिनों तक सोवियत व्यवस्था के भी विरोधी रहे। नयी शासन व्यवस्था का विरोध करने का मुख्य कारण उनका यह भय था कि लाखों-करोड़ों किसानों और मज़दूरों को मुक्त करने में कहीं व्यक्ति के निजी अधिकारों को धक्का न लगे। इतिहास में, "व्यक्ति की स्वतन्त्रता" के लिए लड़ने वालों में गोर्की का स्थान प्रमुख है पर हमारे आज के कुछ वाक् प्रवीण नेताओं की तरह उन्होंने इक्के-दुक्के लोगों - समाज के सफ़ेदपोशों - की हिफ़ाज़त के लिए शोरगुल नहीं मचाया। स्वाधीनता से उनका अर्थ था सभी के लिए, लाखों-करोड़ों के लिए - आम जनता के लिए - स्वाधीनता।

हालाँकि उन्होंने दोष उन्हीं लोगों पर मढ़ा जो दोषी थे - सोवियत नेताओं पर नहीं। फिर भी नैतिकता सम्बन्धी नयी धारा की कड़े शब्दों में उन्होंने आलोचना की। 1920 में कही उनकी यह बात आज भी सच उतरती है।

"प्रेम के बारे में मैं लम्बी-चौड़ी बातें नहीं बघारूँगा", अपने एक प्रसिद्ध लेख में उन्होंने लिखा था - "हाँ एक बात मैं ज़रूर कहना चाहूँगा। वह यह कि यौन-सम्बन्धी मामलों में नयी पीढ़ी के लोग, मेरे विचार से, अति सरलता के दोषी हैं। कुछ दिनों के बाद उन्हें अपने अपराध का भुगतान करना ही पड़ेगा।"

बन्धनरहित प्रेम के प्रचारकों पर सरकारी तौर पर हमला बोला लेनिन ने। महिला क्रान्तिकारी क्लारा जेट्किन से लेनिन की बातचीत हो रही थी। क्लारा जेट्किन ने लेनिन का ध्यान इस "क्रान्तिकारी" विचारधारा की ओर दिलाया कि प्यास की तरह ही कामेच्छा भी शरीर की एक स्वाभाविक इच्छा होती है। प्यास की तरह उसे भी उसी वक़्त बुझा लेना चाहिए, जब वह पैदा हो। सोवियत सत्ता के प्रवर्तक लेनिन ने इसका उत्तर क्या दिया?

उन्होंने कहा - "निश्चय ही प्यास बुझा लेनी चाहिए।"

और फिर ढोंगभरी नैतिकता की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने इस तथाकथित क्रान्तिकारी विचारधारा पर क़रारा हमला किया और कहा - "परन्तु क्या साधारण परिस्थिति में एक स्वस्थ मनुष्य गन्दी नाली के पनाले का पानी पी लेगा? क्या वह उस गिलास से पानी पी लेगा जिसके किनारों पर तमाम होंठों की जूठन लगी हुई हो? इससे भी ज़्यादा महत्वपूर्ण एक और पहलू, सामाजिक पहलू, भी है। पानी पीना एक व्यक्तिगत चीज़ है। प्यार में दो जीवों का सम्बन्ध निहित है, और एक तीसरे, नये जीव की उत्पत्ति होती है। यही वह चीज़ है जो प्यार को सामाजिक महत्व देती है, जो समाज की ओर व्यक्ति के कर्तव्य को निर्धारित करती है। एक कम्युनिस्ट होने के नाते मुझे पानी के गिलास वाले सिद्धान्त से क़तई हमदर्दी नहीं है, हालाँकि इसे 'प्रेम की प्यास बुझाना', कहा जाता है। जो भी हो, प्रेम की यह स्वच्छन्दता न तो नयी चीज़ है, न कम्युनिस्ट ही इसके हामी हैं। तुम्हें याद होगा कि पिछली शताब्दी के मध्यकाल में इसी सिद्धान्त का 'हृदय की मुक्ति' के नाम से, रोमाण्टिक साहित्य में प्रचार किया जाता था। पर अमली तौर से यह सिद्धान्त शरीर की इच्छा पूर्ति का सिद्धान्त बन गया। जहाँ तक प्रचार की बात है, वह आज से कहीं ज़्यादा मँजा हुआ था; अमल की बाबत मैं नहीं कह सकता।"

लेनिन से यह पूछे जाने पर कि यौन सम्बन्धी स्वच्छन्दता का वे किस हद तक विरोध करेंगे, उन्होंने कहा : "मेरी आलोचना का आशय संन्यासवाद का प्रचार करना नहीं है, क़तई नहीं। कम्युनिज़्म संन्यासवाद की स्थापना नहीं करेगा। वह स्थापना करेगा सुखी जीवन की, शक्तिशाली जीवन की। सन्तोषपूर्ण प्रेम-जीवन इस उद्देश्य में सहायक होगा। मेरे विचार से यौन सम्बन्धी मामलों पर आजकल जैसा ज़ोर दिया जा रहा है वह जीवन को सुख और शक्ति देने वाला नहीं है, बल्कि सुख और शक्ति छीन लेने वाला है। महान परिवर्तन के इस युग में यह बात बुरी है, बहुत ही बुरी है। युवा पुरुषों और स्त्रियों को ख़ासतौर से जीवन के सुख और शक्ति की बहुत ही ज़रूरत है। स्वास्थ्यप्रद खेलकूद, बहुमुखी बौद्धिक क्रियाएँ, शिक्षा, अध्ययन, खोजबीन...नयी उम्र के लोगों के लिए ये चीज़ें

यौन-समस्याओं पर अनन्तकालीन सिद्धान्तों और विवादों से ज़्यादा फ़ायदे की, तथाकथित "जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति" से कहीं ज़्यादा फ़ायदे की होंगी। स्वस्थ शरीर तो स्वस्थ मस्तिष्क!"

लेनिन की बातचीत से दिया गया यह उद्धरण यौन सम्बन्धी समस्याओं पर सोवियत नेतृत्व के रवैये को स्पष्ट कर देता है। लेनिन के इन शब्दों को लेकर बाद में जो लम्बे वाद-विवाद हुए उनके उद्धरण देने की यहाँ ज़रूरत नहीं है। वास्तव में सोवियत कार्यक्रम रूस के आर्थिक और राजनीतिक जीवन के पुनर्संगठन तक ही सीमित नहीं था। वह इससे कहीं ज़्यादा व्यापक और विस्तृत था।

सोवियत सरकार का साहसपूर्ण लक्ष्य न सिर्फ़ मनुष्य के दिन-प्रतिदिन के जीवन को बदलना था, बल्कि मनुष्य के स्वभाव को भी बदलना था। यह लक्ष्य बड़े अनूठे ढंग से मास्को स्पोर्ट्स क्लब के इस नारे में प्रकट होता है :

"हम मानव समाज का पुनर्संगठन न सिर्फ़ आर्थिक आधार पर कर रहे हैं, बल्कि मनुष्य जाति को ही वैज्ञानिक सिद्धान्तों के सहारे सत्पथ पर ला रहे हैं।"

हम इस नारे के पहले हिस्से को छोड़ भी दें, तो भी अपनी समाज-व्यवस्था में आर्थिक परिवर्तन की ज़रूरत को हम लोग स्वीकार कर चुके हैं। किन्तु "मानव जाति को वैज्ञानिक नियमों के सहारे सुधारना" तो एकदम नयी प्रस्तावना है। इन आठ शब्दों में वे तमाम दार्शनिक और नैतिक विचार निहित हैं, जिन पर सदियों से वाद-विवाद होता चला आया है। स्पोर्ट्स क्लबों के नारों में यह एकदम अनूठी चीज़ है।

सबसे पहले तो यह कि उपरोक्त नारा मानव जाति में सुधार की आवश्यकता को मानता है।

दूसरे, वह इस बात को मानता है कि मानव जाति को सुधारा जा सकता है।

और अन्त में, वह यह अनूठा विचार पेश करता है कि मानव स्वभाव को वैज्ञानिक नियमों के सहारे सुधारा जा सकता है : अर्थात ऐसे तरीक़ों के ज़रिये सुधारा जा सकता है जो ठीक तरह से आयोजित किये गये हों और जिनके असफल होने की आशंका नहीं हो। और यह सच्चाई है कि इतिहास में जब कभी भी ऐसे नैतिकता सम्बन्धी बड़े से बड़े सुधारों को प्रयोग में लाया गया है, उनके मूल में यही तीन बातें काम करती थीं, जिनका ज़िक्र हम ऊपर कर चुके हैं।

हमें यहाँ दार्शनिकता से मतलब नहीं। हमें तो सच्चाई से प्रयोजन है। और यह एक सच्ची बात है कि इतिहास का नैतिकता सम्बन्धी सबसे बड़ा प्रयोग उपरोक्त तीन बातों पर अडिग विश्वास की शिला पर आधारित था।

हमारी निजी धारणाएँ कुछ भी क्यों न हों, हमें कुछ देर के लिए तो सच्ची बातों को मानना ही पड़ेगा। और किसी कारण से न सही, सोवियत रूस में इन्द्रिय रोगों, व्यभिचार और शराबख़ोरी का अन्त क्यों कर हुआ, यह जानने की उत्सुकता के आधार पर ही हमें ईमानदारी की बात मान लेनी चाहिए।

तो, हम इस विचार को किस प्रकार हृदय में बैठा लें कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों के सहारे मानव जाति को सुधारा जा सकता है?

हम देख चुके हैं कि हमारे देश में अनैतिकता के ख़िलाफ़ डॉक्टरी आन्दोलन बड़े ज़ोर-शोर से चलाये गये। लेकिन कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं निकला। केवल इन्द्रिय रोगों को जीतने के प्रयत्नों तक सीमित रहने पर भी उनसे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। इस असफलता के साथ-साथ एक बात और भी है। हमारे जनवादी देशों के किसी भी ज़िम्मेदार वैज्ञानिक ने यह कहने का साहस नहीं किया कि अनैतिकता की इस समस्या के हल के लिए कोई वैज्ञानिक खोज की जाये। फिर, वैज्ञानिक उपायों में सोवियत नेताओं का आशावाद कहाँ से उमड़ पड़ा?

सोवियत वैज्ञानिकों ने पहले तो अनैतिकता को एक समझ में आने वाली बात बना दिया। दूसरे, उन्होंने पाप पर से रहस्य का पर्दा हटा दिया।

पूँजीवाद ने प्रेम को सम्मानपूर्ण स्थान दिया

कामेच्छा मनुष्य के लिए एक स्वाभाविक चीज़ है। एक अर्थ में इसकी तुलना भूख और प्यास से की जा सकती है कि इसे तृप्त करने की ज़रूरत महसूस होती है। सोवियत रूस के जीव-विज्ञानियों, मनो-विज्ञानियों, और मानव-विज्ञानियों ने "पानी के गिलास" वाले सिद्धान्त – अर्थात शुष्क भौतिकवादी सिद्धान्त – को अच्छी तरह परखा। वे इस नतीजे पर पहुँचे कि 'प्यास' कामेच्छा से मूलत: भिन्न है। जन्म के समय कामेच्छा नहीं होती। कौमार्य-अवस्था प्राप्त होने पर ही वह पूरी तरह विकसित होती है। कामेच्छा जागृत होने के साथ किसी भी लड़के या लड़की के शरीर और मस्तिष्क में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन होते जाते हैं। मनुष्यों में इस इच्छा की आनन्दमयी तृप्ति मस्तिष्क, विचारों, धारणाओं और स्वप्नों के प्रभाव से और अधिक बढ़ती जाती है। भूख और प्यास को लगातार बुझाते रहना शरीर कायम रखने के लिए नितान्त ज़रूरी होता है। किन्तु कामेच्छा की तृप्ति इतनी ज़रूरी नहीं। दूसरी तरफ़, मनुष्य के लिए इन्द्रिय-सम्भोग का भौतिक उद्देश्य उसके स्वयं जीवित रहने की इच्छा से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। यौन-सम्बन्धों के परिणामस्वरूप लोग माता-पिता बनते हैं। वे नये जीव को जन्म देते हैं। वे मानव जाति का सृजन करते हैं। इसी प्रकार यह भी सर्वविदित है कि सम्भोग से परम आनन्द प्राप्त होता है। यह आनन्द इतना जटिल और मस्तिष्क द्वारा रंग-बिरंगा बना दिया जाता है कि सम्भवत: इसकी तुलना "पानी पी लेने" या "खाना खा लेने" से नहीं की जा सकती।

इसी बात को लेकर सोवियत वैज्ञानिकों ने पुराने नीति-वेत्ताओं से आगे क़दम बढ़ाया। उन्होंने इस बात को मानने से इन्कार कर दिया कि मानव-विकास के इतिहास में यौन सम्बन्ध अपरिवर्तित रहे हैं। उन्होंने यह भी मानने से साफ़ इन्कार कर दिया कि यौन समस्या को कभी न हल होने वाली समस्या मान लिया जाये।

पुराने विचारों को चुनौती देने वाला उन्होंने एक नया विचार पेश किया : आज के समाज में मनुष्यों के यौन सम्बन्ध पुरातन के यौन सम्बन्धों से उतने ही भिन्न हैं जितने कि हमारे सहृदयतापूर्ण व्यवहार पशुओं के व्यवहार से भिन्न हैं।

उन्होंने "प्रेम" शब्द की नयी व्याख्या पेश की। उन्होंने प्रेम को भोग-लालसा की तृप्ति का साधन कहकर ही इति नहीं कर दी। प्रेम को भोग-लालसा की तृप्ति का सिर्फ़ साधन मानने की बजाय उन्होंने ऊँचे उठकर ऐतिहासिक तथ्यों के सहारे यह घोषणा की कि जिस प्रेम की आज हम बात करते हैं वह मानव समाज के महान प्रगतिशील व क्रान्तिकारी विकास का द्योतक है। उन्होंने कहा कि प्रेम के सम्बन्ध में सही समझदारी और उसका अनवरत विकास ही वह आधार-शिला है जिस पर एक सच्चे नैतिक समाज का निर्माण हो सकता है।

यह बात कुछ असंगतिपूर्ण लगती है कि वैज्ञानिकगण प्रेम के सम्बन्ध में अपना सिद्धान्त गढ़ें। बात कम मनोरंजक भी नहीं। हमारे लिए सम्भवत: यह कल्पना करना कठिन होगा कि ऐन्थ्रोपोलॉजी (मानव-विज्ञान) जैसे जटिल विषय का नीरस प्रोफ़ेसर इस सम्बन्ध में क्या मत पेश करेगा। सो लीजिए, हम, सोवियत वैज्ञानिकों की विस्तृत खोजबीनों के बुनियादी सारांशों तक ही अपने को सीमित कर लें...।

आरम्भ में, आदिकाल के मनुष्यों के जीवन में कामेच्छा का स्थान पशुओं के मुक़ाबले कुछ ऊँचा ही था। इन्द्रिय भोग की लालसा पुरुष का मुख्य गुण था। स्त्री केवल इस इच्छा को तृप्त करने और बच्चे पैदा करने का साधन थी। उस काल के मनुष्यों को जीव विज्ञान सम्बन्धी बातों का ज्ञान शून्य के बराबर था। तब तक यह मालूम नहीं था कि स्त्री कैसे गर्भ धारण करती है। इसलिए इस बात को मानने की गुंजाइश ही नहीं थी कि सन्तानोत्पत्ति में स्त्री-पुरुष का समान उत्तरदायित्व होता है। इसलिए उस काल के समाज का विशेष लक्षण था : सामूहिक विवाह। इस प्रथा का अर्थ स्वयं ही स्पष्ट है। एक समूह की स्त्रियाँ समय-समय पर उस समूह के सब या अधिकांश पुरुषों से सम्भोग करती थीं। प्रागैतिहासिक काल का आदि मानव उन रोमानी अनुभूतियों से ज़रा भी नहीं छू गया था जिनकी कल्पना करके बाद में रोमानी कथाएँ रची गयीं। उसकी स्त्री उसके लिए बच्चे पैदा करने वाली थी। वह सिर्फ़ उसका हुक्म बजा लाने वाली थी।

धीरे-धीरे व्यवस्थाहीन समाज से बर्बर समाज का विकास हुआ। इस समाज के अभ्युदय के साथ ही जोड़ों के विवाह, अर्थात एक पुरुष और एक स्त्री के यौन सम्बन्ध पर आधारित विवाह, शुरू किये। इस प्रथा की आधार-शिला जीव-विज्ञान की प्रारम्भिक जानकारी थी – यह जानकारी कि एक पुरुष और

एक स्त्री के सम्भोग से शिशु का जन्म होता है। अस्तु, यह शिशु न केवल स्त्री से बल्कि पुरुष से भी जन्मा था। किन्तु बहुतों की सम्पत्ति की बजाय केवल एक पुरुष की सम्पत्ति बन जाने पर भी स्त्री की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। स्त्री पूर्ण रूप से पुरुष की दासी बनी रही; और बहुत-सी असभ्य जातियों में उसे कठिन से कठिन काम करना पड़ता था।

बर्बर समाज के गर्भ से प्रारम्भिक सभ्यताओं का जन्म हुआ। इस बात को न तो सोवियत विद्यार्थी, न ही दूसरे देशों के अधिकारी मानते हैं कि यौन सम्बन्धों में परिवर्तन के प्रभाववश ही मानव जाति बर्बरता से ऊपर उठ पायी। इस परिवर्तन में कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण कारण निहित थे। उन पर विचार करने के लिए यहाँ स्थान नहीं है। हाँ, यह तो स्पष्ट है कि विकासमान सभ्यता के अमली प्रभाव अत्यन्त सरल थे। बर्बर जातियों की अपेक्षा सभ्य मानव जाति अनाज, मकान, वस्त्रों तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का अधिक मात्रा में उत्पादन कर सकी। यद्यपि यह बात सही है कि बहुसंख्यक लोग अब भी ग़रीब और मेहनत-मज़दूरी करने वाले थे; फिर भी, इन प्रारम्भिक सभ्यताओं से कुछ लोगों को तो ज़रूर ही आराम से जीवन बिताने का मौक़ा मिला। तरह-तरह की बातें सोची जा सकीं और जीवन के रहस्य के बारे में पता लगाने का इन लोगों को मौक़ा मिला।

स्वाभाविक ही था कि पहले-पहल जिन रहस्यों ने मनुष्य के मस्तिष्क को उलझा दिया, उनमें से एक काम-रहस्य भी था। नृ-वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि पुरातन मानव ने काम और धर्म को परस्पर सम्बन्धित कर रखा था। कुछ देवताओं और देवियों को – वीनस, सीरीज, एस्टार्य, आइसिस व माइलिन्ता, आदि को – कामसूत्र में बँधे पाते हैं। प्राचीनतम धार्मिक रीति-रिवाज़ों ने पृथ्वी के उपजाऊपन को, सूर्य की जीवनदायक ऊष्मा को और दूसरी सरल संघटनाओं का काम सम्बन्धी जटिल और आनन्ददायक तथ्यों से और मातृत्व के भयप्रद अद्‌भुत रहस्य से सम्बद्ध किया। इन बातों को आज के बहुत से लोग जानते हैं। बिना धर्म की दुहाई दिये वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि आज के और पुरातन के धर्म की रूपरेखा में काफ़ी समानता के बावजूद पुरातन धर्म की अनेक आध्यात्मिक बातें और पूजा-पाठ के तरीक़े बहुत भिन्न थे। पुरातन धर्म और वर्तमान धर्म की रूपरेखाओं में कितना भारी अन्तर है, यह वेश्यावृत्ति से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्य स्पष्ट कर देते हैं। महापुरातन काल की वेश्या देव-मन्दिर की गणिका होती थी।

मानव इतिहास के बर्बर और अर्ध-सभ्य समाजों के धर्मों की मान्यता थी कि तमाम औरतें आत्मार्पण एक बार या अनेक बार पुरोहितों या दूसरों के सामने अवश्य करें। जो औरत इससे इन्कार करती उसका दण्ड यह माना जाता था कि

वह आजीवन निस्सन्तान रहेगी; कि उस पर दैवी प्रकोप होगा। उदाहरण के लिए, बेबीलोन में ग़रीब हो या अमीर, हर औरत को एक बार 'वीनस' के मन्दिर में अवश्य जाना पड़ता था। उसे मन्दिर के बग़ीचे में तब तक खड़ी रहना पड़ता था, जब तक उसी की जाति का कोई अजनबी आकर उसके साथ सम्भोग न करे। समकालीन इतिहासकार सबूत छोड़ गये हैं कि कभी-कभी बहुत ही सुशील इच्छारहित महिलाओं को भी बरसों इस बात में लग जाते कि वे किसी पुजारी को रिझायें और वह उनके साथ सम्भोग करके उनके लिए मुक्ति का द्वार खोले। यह भी जानी-मानी बात है कि अधिक काल तक यह परम्परा धर्म के आवरण में ढँकी न रह सकी। मन्दिरों को क़ायम रखने और पुरोहितों के खानपान के बन्दोबस्त के लिए हर "भक्त" को मन्दिर में चाँदी का एक चमकता हुआ पवित्र सिक्का छोड़ आना पड़ता था। इस प्रथा के परिणामस्वरूप बहुत ही गन्दे और कुत्सित विचारों का जन्म हुआ। ऐसे लोगों की कमी न थी जो देवताओं को इस सरल उपाय से प्रसन्न करने के लिए सदा तैयार रहते थे। दूसरे, कुछ महिलाओं को पता चला कि अपनी दूसरी भाग्यहीन बहनों से भिन्न वे बारम्बार मन्दिर में जा सकती हैं और हर बार कोई-न-कोई उदारपूजक उन्हें चाँदी का सिक्का देने को तैयार रहता है।

परिणामस्वरूप पतित पुरोहितों ने तय किया कि इस तरह इकट्ठा होने वाले पैसे में हम लोग भी हिस्सा-बाँट करें। और, धीरे-धीरे मन्दिर में देव-पूजा का स्थान व्यभिचार ने ले लिया। लोग मन्दिर में केवल इस इरादे से जाते कि अपनी लिप्सा को शान्त करें। औरतें और मन्दिर के पुरोहित रक़में सीधी करने में लग गये। मन्दिर, मन्दिर न रहे, व्यभिचार के अड्डे बन गये।

एक सामाजिक कुरीति के रूप में व्यभिचार की इस प्रकार स्थापना हुई। आधा व्यवसाय, आधी धर्मपरायणता – सदियों तक इसका यही रूप रहा। भारत में तो इसका यह रूप कहीं-कहीं अब भी पाया जाता है। वहाँ देव-नर्तकियाँ युगों पुरानी देव-दासियों के समान अब भी मन्दिरों में नाचती हैं; और, शायद कोई ग्राहक अच्छी रक़म देकर उन्हें अपना भी सकता हो।

ईसाई मज़हब ने, जैसा कि सर्वविदित है, तमाम पश्चिमी देशों से इस तरह की प्रथा को समाप्त किया। पर व्यभिचार का अन्त इससे भी नहीं हुआ। हुआ यह कि बदचलन औरतों के अड्डे गिरजाघर से हटकर दूर घनी बस्तियों में बन गये। इसका पूर्वाभास यूनान के प्राचीन इतिहास में भी मिलता है। यूनान के प्राचीन इतिहास के प्रति कवियों और विद्वानों की श्रद्धा व भक्ति का मैं आदर करता हूँ। पौराणिक हेलेनिक सभ्यता की प्रशंसा करने के बाद जब हम उस युग के जीवन के तथ्य सामने रखते हैं, तो हमें सहम जाना पड़ता है। पर उस काल के

वास्तविक तथ्यों को नज़दीक से देखने पर हमें पता चलेगा कि उस काल की जैसी प्रशंसा पायी जाती है वह कुछ असंयत भी है। सुप्रसिद्ध दार्शनिक डेमोस्थनीज को प्रेरणा देने वाली महिला 'सैक्स' स्वयं एक व्यभिचारिणी थी। इसी प्रकार की व्यभिचारिणी 'असपासिया' भी थी जिसे पेरीक्लीज हृदय से पूजता था। ये महिलाएँ बहुत ही ऊँचे दर्जे की वेश्याएँ थीं। पर उनकी सुन्दरता और बुद्धि के बारे में कही गयी तमाम बातें इस सच्चाई पर पर्दा नहीं डाल सकतीं। क्या 'सैक्स' और क्या 'असपासिया' – सभी "प्रेम" धन से करती थीं। उनके नम्बर सबसे आगे इसलिए हैं, क्योंकि उनमें ज़्यादा-से-ज़्यादा पैसा खींचने की चतुराई मौजूद थी। पर जिन लोगों को चतुराई भरी बातों में मज़ा नहीं आता था, यानी जो नाच-गाना ज़्यादा पसन्द करते थे, उनके लिए मँझले दर्जे की वेश्याएँ (एल्यूट्रिडी) थीं। ग़रीबों के लिए निम्नतम दर्जे की वेश्याएँ (विक्टेरियाड) थीं।

यह था यूनान में महिलाओं का क्रम-विभाजन। यद्यपि इस व्यभिचार पर धर्म की छाप लेशमात्र भी नहीं थी, तथापि इसे ज़रा भी बुरा नहीं समझा जाता था। व्यभिचार की ऐसी ही व्यवस्था रोम के प्राचीन गौरवपूर्ण दिनों में भी थी; वहाँ के सुप्रसिद्ध "बॉथ" आजकल के 'कुत्सित गृहों' से ज़्यादा भिन्न न थे। थोड़ा-सा फ़र्क़ यही था कि "बॉथ" बहुत ही सजे-धजे होते थे और उनके आस-पास सफ़ाई ज़्यादा रहती थी।

देखा जाये तो ईसाई मज़हब ने इस क्षेत्र में जो अमली तब्दीलियाँ कीं, उनसे अच्छाई की बजाय बुराई ज़्यादा हुई। सच है कि वेश्या के घर को गिरजाघर से सदा के लिए दूर कर देने से एक नैतिक विजय हुई। पर, गन्दगी और ग़रीबी में आकर ये वेश्याएँ सामाजिक बीमारियों की जड़ बन गयीं। यदि किसी भी दिशा में उनकी तरक़्क़ी हुई, तो उनकी संख्या में। समाज में वेश्याओं को बुरी नज़र से मध्य युग की कई शताब्दियों तक देखे जाने का उन पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ा। सच पूछो तो धर्मयुद्धों (क्रूसेड्स) के दिनों में भी व्यभिचार का ख़ूब बोलबाला था। यद्यपि चार्ल्स दि बोल्ड की सेना अधर्मी पूर्वी देशों के ख़िलाफ़ धर्मयुद्ध छेड़ने निकली थी, तथापि कहा जाता है कि उसके साथ चार हज़ार महिलाएँ संगिनी के रूप में थीं। बड़े-बड़े खेल-कूदों, त्योहारों और उत्सवों के अवसर पर व्यभिचार इतने व्यापक पैमाने पर फैलता कि लिख सकना कठिन है। चिकित्सा के इतिहास में हमें उसकी अच्छी-ख़ासी झाँकी मिल जाती है।

अस्तु यह जानना अच्छा ही होगा कि जिस व्यभिचार को इतने बड़े पैमाने पर बर्दास्त किया जाता था, वह सामाजिक समस्या कैसे बन गया।

बारहवीं शताब्दी के मध्य में लिस्बन के विरुद्ध धर्मयुद्ध चलाने वाले जर्मन

और अंग्रेज़ राव-राजाओं की चिन्ताओं का ठिकाना न रहा, जब उन्हें मालूम हुआ कि उनकी सेनाएँ तो अपनी "संगिनियों" से ही उलझी हुई हैं। उन्होंने फ़ौरन कड़ा नियम जारी कर दिया कि फ़ौज का वेश्याओं से कोई सम्बन्ध न रहे। उदाहरण के लिए, इतिहास प्रसिद्ध फ़्रेडरिक प्रथम की घोषणा निम्नलिखित थी :

"किसी के क्वार्टर में औरत न पायी जाये। अगर किसी ने औरत रखने की जुर्रत की तो उसके हथियार उससे छीन लिये जायेंगे और उसे अधर्मी क़रार दे दिया जायेगा। औरत की नाक काट ली जायेगी।"

"संगिनियों" की इस दुर्गति से व्यभिचार को ख़त्म करने में उतनी ही सफलता मिली जितनी 'नाइटों' (युद्ध-प्रेमी वीरों) की बेइज़्ज़ती करके या ईसामसीह के नाराज़ होने का डर दिखाकर मिली थी; अर्थात बिल्कुल नहीं। एक बात ज़रूर हुई। फ़्रेडरिक की दण्ड योजना की बार-बार नक़ल की गयी। पर व्यर्थ। बाद के पाँच सौ सालों में यूरोप के जल्लादों ने न जाने कितनी बदक़िस्मत औरतों की नाकें काट डाली होंगी।

जो भी हो, इस स्थिति का सामना उन औरतों को नहीं करना पड़ा जो धनिकों की कृपापात्र थीं। शान्ति-काल में तो इन महिलाओं ने मनमाना ऐश किया। 'दुविजेवा' नामक पादरी ने अपनी एक रिपोर्ट में (1180 के लगभग) बताया है कि बहुधा फ़्रांस की महारानी और राजघराने की दूसरी महिलाएँ ख़ूबसूरत वेश्याओं को ऊँचे घराने की महिलाएँ समझ बैठती थीं। बाद में उन्हें पश्चाताप होता था। इसी कारण लुई तेरहवें ने क़ानून बना दिया था कि वेश्याएँ चूनर न ओढ़ें, ताकि लोगों को यह समझने में दिक़्क़त न हो कि कौन वेश्या है और कौन नहीं।

दो सौ साल बाद, जब फ़ौजों से व्यभिचार ख़त्म होता दिखायी न दिया तो यूरोप के युद्धशास्त्रियों ने एक नया नियम बनाया। यह नियम कहीं-कहीं तो तबसे क़ायम रहता आया है और आज भी क़ायम है। इसका नाम था : व्यभिचार नियन्त्रण क़ानून। मुमकिन है कुछ और लोगों ने भी पहले इसे शुरू किया हो। पर जहाँ तक हमें मालूम है, सम्राट फ़्रेडरिक द्वितीय ने 1380 में अपने सेनापति को आदेश दिया था कि शाही सेना के साथ लगी हर व्यभिचारिणी औरत से साप्ताहिक फ़ीस वसूल की जाये। बाद में अंग्रेज़, फ़्रांसीसी, इतालवी तथा डच शासकों ने अपने भिन्न-भिन्न अफ़सरों को इसी तरह का काम सौंपा। सौ बरस से कुछ ही पहले नीदरलैण्ड पर जब ड्यूक ऑफ़ आल्वा ने चढ़ाई की तो उसकी फ़ौज के साथ वेश्याएँ बड़े ठाट-बाट से थीं। कई सौ वेश्याएँ तो शहजादियों के-से कपड़े पहने थीं और हर एक के पास सवारी के लिए एक अच्छा घोड़ा था। बाक़ी पैदल थीं। फ़ौजियों की तरह क़तार बाँधे वे भी हाथ में झण्डे लिये

चल रही थीं। वेश्याओं के हर दस्ते के हाथ में उन्हीं फ़ौजी टुकड़ियों का झण्डा था जिनसे उनका सम्बन्ध था। ड्यूक ने हुक्म जारी कर दिया था कि जो भी फ़ौजी नियत फ़ीस दे उसे हर औरत को मंजूर करना पड़ेगा और उसके साथ सम्भोग करना पड़ेगा।

यूरोप के तमाम देशों में – जिनमें इंग्लैण्ड भी शामिल है – वेश्यावृत्ति का ऐसा ही इतिहास रहा है। रोमन-विजेताओं का अनुकरण करते हुए ब्रिटिश अधिकारियों ने व्यभिचार को पहले-पहल कुछ ख़ास मकानों तक सीमित रखने का प्रयत्न किया। हेनरी प्रथम के काल में ये मकान, 'टेम्स' नदी के दक्षिणी किनारे पर बसे थे। व्यभिचार सम्बन्धी उच्छृंखलता के ये ही अड्डे थे। हेनरी द्वितीय ने ज़रूरत महसूस की कि इन मकानों पर नियन्त्रण रखा जाये – जैसे कि गिरजाघर की छुट्टी के दिनों में इन मकानों को बन्द रहना पड़ता था। किसी भी विवाहित महिला या पुजारिन को इन मकानों में घुसने की इजाज़त न थी। अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ भी कोई महिला वहाँ न रोकी जा सकती थी। साथ ही एक विचित्र क़ानून यह भी था कि जो वेश्या मर्द के साथ पूरी रात नहीं बिताये, उसको फ़ीस न दी जाये।

मध्य युग के विकसित होते हुए विशाल नगरों में व्यभिचार का ख़ूब बोलबाला था। स्थानीय सेनाएँ और व्यापारी इसके पोषक थे।

इस कथन की प्रामाणिकता के साक्षी उस ज़माने के दस्तावेज़ आज भी मौजूद हैं। इस घटना के लिखित प्रमाण मौजूद हैं कि सन 1414 में सम्राट 'सिजिसमण्ड' आठ सौ घुड़सवारों सहित स्विट्ज़रलैण्ड के बर्न नगर में ठहरे; उनके स्वागत में बर्न के नगरपालों ने तमाम वेश्यागृहों को तीन दिन के लिए उनके हवाले कर दिया था। सम्राट और उनके साथियों ने न केवल इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ उठाया, बल्कि नगरपालों को सम्राट ने लिखित रूप से धन्यवाद भी दिया!

ध्यान देने की बात है कि जो परिस्थिति आज हमें बड़ी घृणास्पद मालूम होती है, वह उस समय पूरी तरह नैतिक मानी जाती थी। मध्य युग में वेश्यागमन जीवन का एक आवश्यक अंग माना जाता था। बाद में ज़रूर व्यभिचार के इस खुल्लमखुल्ला पोषण को बुरी नज़र से देखा जाने लगा। इतिहास बताता है कि किसी भी समाज की सभ्यता की नाप-जोख उस समाज में अनैतिकता के प्रति रवैये से होती है।

इस सम्बन्ध में यह बता देना ज़रूरी है कि युद्ध से पहले के काल में जापान में कई हज़ार वेश्यागृह थे। इन वेश्यागृहों की निगरानी जापानी सरकार ख़ुद करती थी। कुछ वेश्यागृहों को तो जापानी सरकार ख़ुद चलाती थी। युद्ध के बाद वहाँ काफ़ी परिवर्तन हो गये हैं। लेकिन वहाँ की एक बात अब भी बड़ी अनोखी है

: उच्च और मध्यम आर्थिक स्तर वाले लोगों में कुछ उन स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं जो वर्षों तक आम लोगों के सुख-भोग का साधन रह चुकी होती हैं; इससे उनकी इज़्ज़त में कोई बट्टा नहीं लगता। हिटलरी जर्मनी में तो नैतिक पतन भयानक रूप में था। चौतरफ़ा विकृत काम-वासना का राज्य था। वेश्यागृह बड़े संगठित रूप से चलाये जाते थे। बड़े-से-बड़े अख़बारों में काम-वासना उभाड़ने वाले विज्ञापन भरे रहते थे। यह भी एक अकाट्य सत्य है कि पश्चिमी जर्मनी और जापान में – ख़ासतौर से जहाँ अमेरिकी आधिपत्य क़ायम है – जनता को अमेरिकी "नैतिकता" का जो नज़ारा देखने को मिला है, उससे वह सिहर उठी है। अमेरिकी फ़ौजी दस्तों के व्यवहार के ख़िलाफ़, उनमें इन्द्रिय रोगों की बढ़ती के ख़िलाफ़, न सिर्फ़ जर्मनी और जापान के, बल्कि ख़ुद अमेरिका के पादरियों और डॉक्टरों ने रोष प्रकट किया है।

जापानी नैतिकता के बारे में बहुत-सी ऊलजलूल और बेहूदा बातें भी प्रचारित की गयी हैं। प्रशान्त-युद्ध (Pacific War) के समय कुछ मित्र-राष्ट्रीय अफ़सरों ने बड़ी संजीदगी से यह तक कह डाला कि सुप्रसिद्ध "गीशा बालाएँ" दरअसल वेश्याएँ नहीं थीं। हमारे यहाँ की स्टेज-द्वार की कैण्टीन-बालाओं की तरह वे सम्मानित महिलाएँ थीं। जापानी नैतिकता के सम्बन्ध में सभी बातें विस्तार से क्रौस की पुस्तक **डास जेस्यलेख़्तलेबेन डेर जापानेर**[1] में मौजूद हैं। सभी वेश्यागृहों को आमतौर से योशीवारा कहते थे। यूँ अलग-अलग वर्गों के वेश्यागृहों के अलग-अलग नाम थे। बहुधा इन घरों का नियन्त्रण राज्य की ओर से होता था; कभी-कभी मठों-मन्दिरों की ओर से भी। वहाँ की प्रथा सदियों पुरानी है और अपने वर्तमान रूप में मध्य युग के नैतिक नियमों की अनूठी मिसाल है।

जापानी सरकार छोटी-छोटी लड़कियों को इस पेशे के लिए ख़रीद लेती थी और उन्हें इसी पेशे की शिक्षा देती थी। क़र्ज़ से लदे व भुखमरी के शिकार किसान अपनी लड़कियों को बेचने को तैयार हो जाते। लड़की का रंग-रूप और उसकी चतुराई इस बात का फ़ैसला कर देती कि वह किस वर्ग के लोगों के लिए उपयुक्त है। "सबसे अच्छी" कुमारियों को ज़्यादा-से-ज़्यादा शिक्षा दी जाती। उन्हें पढ़ना-लिखना, कविता लिखना तथा गाना गाना, नृत्यकला और तहज़ीब की शिक्षा दी जाती। वेश्या बन जाने पर भी उसकी शिक्षा-दीक्षा जारी रहती। हाँ पुरानी वेश्याएँ उसकी शिक्षिका का काम करतीं। एक क़ानून के द्वारा वेश्या का काम शुरू करने की उनको तब तक मुमानियत थी, जब तक वे 14 साल की न हो जायें। एक दूसरे क़ानून के तहत वे वेश्यागृह छोड़ भी सकती थीं, बशर्ते कोई

1. देखिए आर. हर्तजे द्वारा इस पुस्तक की विवेचना, भाग 6, शीर्षक 'योशीवारा'।

उन्हें खरीद ले और वे उसकी पत्नी बन जायें।

अपने यहाँ की तरह जापानी भाषा में 'रण्डी' जैसा कोई अपमानसूचक शब्द नहीं है। वहाँ वेश्या को "थोड़ी देर के लिए बीवी" या "घण्टे-भर की जोरू" कहा जाता है। प्रसिद्ध जापानी कविताओं में ऐसी औरतों का ज़िक्र अक्सर आया है जिन्हें 'दलदल में कमल' कहा गया है।

वर्तमान टोकियो की योशीवारा वास्तव में "पंक से पूरित कुण्ड" ही थी किन्तु कवित्वमय भाषा में उसे "सुख के सरोवर" की योशीवारा कहा गया। यह स्थान नगर का ही एक अंग था। परन्तु नगर और इसके बीच कुछ खाइयाँ थीं। नगर से इस स्थान पर पहुँचने के लिए एक पुल बना हुआ था जिसके द्वार पर लिखा रहता था, "बसन्त का वह स्वप्न लोक जहाँ की सड़कों पर नये-नये मनोहर प्रसून खिले हैं।" सन 1872 में योशीवारा सम्बन्धी क़ानूनों में नये परिवर्तन हुए। बड़े-बड़े वेश्यागृह बनाने की इजाज़त मिली। सफ़ाई सम्बन्धी नये नियम बने, धनी-मानी लोगों और फ़ौजी अफ़सरों के मनोरंजन के वेश्यागृह छोटे-मोटे महलों से होड़ लेते थे। टोकियो के इन वेश्यागृहों के नमूने जापान में लगभग सब जगह मौजूद हैं। जापान का यह लाल रोशनी वाला क्षेत्र दुनिया में अपना सानी नहीं रखता था। विस्तार और व्यापार की दृष्टि से दुनिया में उनकी टक्कर के दूसरे वेश्यागृह नहीं। हज़ारों की तादाद में बड़ी ख़ूबसूरती से रँगी-चुनी लड़कियाँ रंग-बिरंगे बारीक पर्दों के पीछे कतार बाँधे बैठी रहतीं। पश्चिम के यात्री को वे अभागी, विक्टोरिया-युग की "स्वर्ण पिंजड़े की चिड़ियों" की याद दिलातीं। सबसे उत्तम वेश्यागृहों में सबसे उत्तम "पिंजड़े" होते।

पिछले कुछ दिनों से सड़क पर गुज़रने वालों को ये लड़कियाँ दिखलायी नहीं देतीं। अब उनके स्थान पर उनके फ़ोटो बाहर लटके रहते हैं।

इन वेश्यागृहों में जाने वालों को कई छोटे-मोटे अनुष्ठान पूरे करने पड़ते थे। फलस्वरूप अनेक पश्चिमी आगन्तुक इन्हें सिर्फ़ मनोरंजन-गृह समझ बैठते थे। "घण्टे-भर की जोरू" का सौदा चाय पीने के उस कमरे में बैठकर पटाया जाता जो बहुत की सौम्य और पवित्र मालूम होता था। ऊँचे दर्जे के वेश्यागृहों में आगन्तुकों की सुविधा के लिए इन कमरों में वेश्याओं के चित्र लटके रहते। कुछ वेश्यागृहों के अपने विशेष चिन्ह होते जो दरवाज़े पर लटकी लालटेनों पर अंकित होते थे। हाँ, सस्ते वेश्यागृहों में ये सब ताम-झाम नहीं थे। जापानी गाँवों की वेश्याएँ दरिद्रता के उसी स्तर पर थीं जिस पर यूरोप या अमेरिका के गाँवों की। "गीशा" आमतौर से उन वेश्याओं को कहते थे जो औसत दर्जे की वेश्याओं से ज़्यादा चतुर और शिक्षित होती थीं। अस्तु, जापान में यूनानी और मध्यकालीन व्यभिचार-व्यवस्था, दोनों के ही, लक्षण मौजूद थे।

यूरोप में मध्य युग के अन्तिम चरण में वेश्यावृत्ति के ख़िलाफ़ संघर्ष तेज़ होता दिखायी देता है। उस काल में वेश्यावृत्ति को कड़े शब्दों में अनैतिक घोषित किया गया। अनेक वैज्ञानिकों ने पता लगाने की कोशिश की है कि ऐसा क्योंकर हुआ। उन्होंने इसके भिन्न-भिन्न कारण बताये हैं। कुछ ने कहा है कि किसी अदृश्य शक्ति ने लोगों के मन में नैतिक भाव जगा दिया था। कुछ का कहना है कि इसका कारण शिक्षा का प्रचार, धर्म का प्रसार, और इन्द्रिय-रोगों को रोकने की आवश्यकता थी, इत्यादि। सोवियत वैज्ञानिकों के अनुसार इसका कारण कुछ और ही था। उनका कथन है कि अनैतिकता के विरुद्ध सामाजिक प्रतिरोध के साथ 'प्रेम' भी एक प्रबल शक्ति थी जिसके कारण यह परिवर्तन हुआ।

प्रश्न उठता है : उस अनुभूति के "शुरू होने" की बात विज्ञान क्योंकर कर सकता है जो मानव स्वभाव का एक बुनियादी लक्षण है? क्या अनन्त काल से ही पुरुष और स्त्री एक-दूसरे के प्रेम-पाश में जकड़े नहीं रहे हैं?

सोवियत अधिकारियों का उत्तर है कि प्रेम, जिस रूप में हम आज उसे जानते हैं, मनुष्य जीवन में अभी हाल की ही चीज़ है। इससे भी विचित्र उनका यह दावा है कि सामन्तवाद के ख़िलाफ़ वर्तमान पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के विजयी संघर्ष ने ही स्थायी प्रेम को जन्म दिया। व्यभिचार के स्तर से ऊपर उठकर उसने प्रेम को सम्मानपूर्ण स्थान दिया। प्रेम को उसने एक ऐसे नैतिक सम्बन्ध की संज्ञा बना दिया, जो व्यभिचार से मोर्चा ले सके।

इस अनूठे तथ्य को जान लेने से हमें उन तरीक़ों को समझने में मदद मिलेगी, जिनके ज़रिये सोवियत अधिकारियों ने व्यभिचार पर विजय प्राप्त की। उनके विशेषज्ञों की खोजबीनों को समझना कोई मुश्किल काम नहीं।

हम देख चुके हैं कि एक पुरुष और एक स्त्री के विवाह की प्रथा बर्बर समाज में ही शुरू हो चुकी थी। सभ्यता के विकास के साथ-साथ इस विवाह प्रथा में अत्यन्त महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। सोवियत नृ-वैज्ञानिक भी उस तथ्य की पुष्टि करते हैं जिसे इतिहासकार बहुत अरसे से बताते आये हैं, अर्थात यह कि एक-पत्नीव्रत प्रथा के साथ-साथ वेश्यावृत्ति भी सब कहीं चलती रही। पर सोवियत विशेषज्ञ इससे और आगे बढ़ते हैं। यूनानी और रोमन सभ्यताओं का अध्ययन करके वे इस बात का अकाट्य सबूत पेश करते हैं कि एक-पत्नीव्रत का आधार साधारणत: आर्थिक उद्देश्य था। क़ानूनन एक-पत्नी प्रथा की स्थापना इस उद्देश्य से की गयी थी कि पति का तमाम धन उसकी मृत्यु के बाद कुछ थोड़े से लोगों में ही विभाजित हो - ख़ासतौर से उसकी क़ानूनी-पत्नी की सन्तानों में हो। यह अमली क़दम इसलिए उठाया गया था कि धनी वर्गों के लोगों की सम्पत्ति उनके पुत्र और पुत्रियों के ही हाथों में केन्द्रित रहे; इसलिए कि वह

सम्पत्ति उनके ग़ैर-क़ानूनी पुत्र-पुत्रियों के हाथ में पड़कर बारहबाँट न हो जाये।

एक-पत्नीव्रत प्रथा की शुरुआत इसलिए नहीं हुई थी कि पति और पत्नी अपने प्रेम को चिरस्थायी बनाना चाहते थे – जैसा कि कभी-कभी हम विश्वास कर बैठते हैं। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि यूनान और रोम के सभ्य माने जाने वाले पुरुष, बहुधा उस स्त्री से विवाह करना पसन्द नहीं करते थे, जिससे वे प्रेम करते हों। बल्कि उनका प्रेम उच्च वर्ग की उन महिलाओं से होता था, जो उनकी रुचि को तृप्त तो करती थीं किन्तु जिनसे विवाह न किया जा सकता था।

उस युग के धनी पुरुषों के लिए विवाह एक ऐसी वैध आवश्यकता थी, जिसके बल पर उन्होंने अपने बाप-दादाओं की सम्पत्ति और समाज में सम्मान का स्थान प्राप्त किया था। उसके आधार पर ही वे अपनी क़ानूनी पत्नी से उत्पन्न सन्तान के बीच अपनी सम्पत्ति बाँट सके थे। ग़रीबों को विवाह कर लेने से पत्नी के रूप में एक दासी और बच्चे पैदा करने वाली औरत मिल जाती थी। किन्तु ये सभी पुरुष अपनी भोग-लालसा की तृप्ति के लिए उन औरतों के पास जाते जिनसे वे विवाहित नहीं थे। इसे ज़रा भी अनैतिक नहीं समझा जाता था।

जैसा कि स्पष्ट है, एक-विवाह प्रथा की सीमाओं में केवल औरत बँधी हुई थी। पति को क़ानूनी और नैतिक अधिकार था कि वह विवाह के अलावा सभी तरह के स्त्री सम्बन्धों को बरत सकता था, बशर्ते कि इस तरह के सम्बन्ध के वह खरे दाम चुका सके। पत्नी को ऐसा कोई अधिकार हासिल नहीं था। अपने पति को छोड़ किसी दूसरे पुरुष से सम्भोग करने वाली स्त्री के लिए कड़े से कड़े दण्ड की व्यवस्था थी। अपने पति के अलावा यदि स्त्री किसी और से सम्बन्ध करे तो उसे अनैतिक क़रार दे दिया जाता था। इसका एक मोटा कारण यह था कि मुमकिन है कि वह किसी दूसरे आदमी से पुत्र को जन्म दे दे और यह पुत्र उसके पति की जायदाद का हक़दार बन बैठे। किन्तु पुरुष के लिए यह सब अनैतिक न था – न तो चार्ल्स दि बोल्ड और न सम्राट सिजिसमण्ड के लिए, भले ही वे हफ़्तों वेश्यागृह में बिता दें। यह ठीक उसी तरह अनैतिक न था, जैसे यूनानी कवियों के लिए 'सेक्स' जैसी महिलाओं की प्रशंसा में गीत गाना अनैतिक न था। जो चीज़ हमें और भी आश्चर्य में डाल देती है वह यह कि पुरातन काल और मध्य युग में वेश्या के जीवन को समाज ज़रा भी नीची नज़रों से नहीं देखता था। इसके विपरीत, वेश्यावृत्ति समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक मानी जाती थी।

सम्पत्ति के क़ानूनी अधिकार पर आधारित नैतिकता की इस व्यवस्था को लगभग दो हज़ार वर्ष पहले ईसाई समाज ने ज्यों का त्यों अपना लिया। इस

व्यवस्था का सबसे खुलासा रूप वह है जिसे इतिहास की किताबों में 'सम्राट का दैवी अधिकार' कहा जाता है। ज़मीन और धन के उत्तराधिकार की परिधि समूची राजनीतिक सत्ता के उत्तराधिकार तक पहुँच गयी। अन्त में इसी उत्तराधिकार पर सामन्तवाद का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक ढाँचा खड़ा किया गया। सम्राट का पुत्र अपने पिता के ताज का हक़दार होता। सामन्त अपनी गढ़ी को अपने बेटे को सुपुर्द करता। दीवान का बेटा दीवान होता। ग़रीब किसान को अपने बाप की टूटी-फूटी झोपड़ी ही मिलती। मध्य युग में औद्योगिक कारीगरों के विवाह-सम्बन्धी और जन्म सम्बन्धी क़ानूनों को कुशल कारीगरों के संगठन – जो "गिल्ड" कहलाते थे – बनाते थे। न सिर्फ़ बन्दिश यह थी कि कोई अपने सामाजिक वर्ग को छोड़कर दूसरे वर्ग में विवाह न करे, बल्कि प्रेम पर आधारित विवाह कर सकना भी कल्पना से परे था। किसी भी लड़की का विवाह उसकी वर्ग स्थिति के अधीन होता था। स्थिति को देखकर आमतौर से "बिचवानी" उसका ब्याह तय करते। कभी-कभी सरकारी ओहदेदार भी इन ब्याहों को तय करते। शायद ही कभी किसी लड़की की इच्छा जानने की कोशिश की जाती। उसकी राय ले लेना केवल ऊपरी चीज़ थी, दिखावा था। आमतौर से अपने पति का मुँह वह अपने ब्याह के दिन ही देख पाती।

अस्तु, इस काल में जिस महत्वपूर्ण अनुभूति को हम 'प्रेम' कहते हैं, उस काल में उसे कोई क़ानूनी मान्यता नहीं दी जाती थी।

विवाह के मौक़े पर पत्नी बनने वाली लड़की को हिदायत दी जाती कि वह बड़ी भक्ति से आजीवन केवल एक पुरुष को – अपने पति को – प्यार करे। विवाह की क़ानूनी और धार्मिक कार्रवाई को इस बात की गारण्टी माना जाता था कि ऐसा ही होगा। समाज हालाँकि इस बात को जानता था कि पत्नी अपने पति के अलावा किसी दूसरे मर्द से प्यार कर सकती है, पर इस प्यार को ज़ाहिर न करने की कड़ी ताक़ीद की जाती थी। उधर उसके पति की बेलगाम लिप्सा को बढ़ाने और तुष्ट करने वाली अनैतिक महिलाओं की फ़ौज ज्यों-की-त्यों बरक़रार रहती।

किन्तु, मध्य युग में ही स्त्री के प्रेम की शक्ति और स्त्री प्रेम की पवित्रता की उपासना भी बढ़ी। कवियों और सितार बजाकर भीख माँगने वालों ने स्त्री प्रेम की गौरव गाथाएँ गानी शुरू कीं। इस तरह, उस प्रवृत्ति का जन्म हुआ जिसे हम "साहसी वीर भाव" (अंग्रेज़ी में "शिवेलरी") कहते हैं। विक्टोरिया-कालीन साहित्य को पढ़कर हमारा युवक वर्ग इस शब्द का जो अर्थ लगाता है, उससे वह एकदम भिन्न था। यह "दुष्ट पुरुषों के बलात्कार से पवित्र स्त्रियत्व को वीरत्वपूर्ण रक्षा" नहीं था। वास्तव में यह विवाह के बन्धन को तोड़कर सच्चा

प्रेम करने की स्त्री की क्षमता का परिचायक था। खुले शब्दों में यह उन स्त्रियों से पुरुषों का प्रेम था, जो सचमुच उन पर जान देती थीं, भले ही वे किसी और की पत्नी क्यों न रही हों।

हमारी आज की समझदारी के मुताबिक़ यह रीति व्यभिचार को न्यायपूर्ण ठहराने वाली, अर्थात अनैतिक, मालूम होती है। पर बात ऐसी नहीं है। उसे हम अपने आज के सामाजिक मापदण्डों से नहीं तोल सकते। वास्तव में वह एक शक्तिशाली नैतिक जागरण की प्रतीक थी। उसने राज्य अथवा धर्म द्वारा सर पर लादे गये पुरुष के विरुद्ध, अपनी रुचि के पुरुष को प्यार करने के स्त्री के अधिकार का प्रश्न सामने ला खड़ा किया।

साथ ही साहसी वीर भाव ने पुरुषों में भी एक नयी चेतना का संचार किया। इसने उन्हें प्रेम की आध्यात्मिक शक्ति के प्रति जागरूक बनाया। 'बिचवानियों' के ज़रिये कराये गये ब्याहों का पर्दाफ़ाश तो इसने किया ही, व्यभिचार की कुरूपता को भी इसने उघाड़कर रख दिया। अब अपने सच्चे प्रेमी से प्यार करना स्त्री के लिए "वीरतापूर्ण" कार्य था। इस तरह वह अपने प्रेम करने के अधिकार को व्यक्त करती थी। यह कार्य नैतिक भी था, क्योंकि अब तक यह साबित हो चुका था कि सच्चे प्रेम के उपासक पुरुष भी मौजूद हैं। मध्य युग की यह एक बहुत बड़ी देन थी। कारण यह कि एक पुरुष और एक स्त्री, जो सचमुच एक-दूसरे को प्यार करते थे, विवाह के बन्धन को तोड़कर एक-दूसरे के बन जाते। उनका यह सम्बन्ध इतनी बलवती प्रेम-भावनाओं से प्रेरित होता था कि वह आजीवन अटूट बना रहता। प्रेम से बँध जाने पर ये दोनों प्राणी बिना किसी क़ानूनी या दूसरे बन्धन के मृत्यु-पर्यन्त एक-दूसरे के प्रति वफ़ादार बने रहते।

वीरता की इस भावना का उद्देश्य स्त्रियों को उस क़ानूनी, किन्तु अनैतिक, विवाह-बन्धन से मुक्त करना था, जिसमें स्त्री बिना अपनी मर्ज़ी के किसी भी पुरुष के साथ बाँध दी जाती थी। किन्तु इससे भी अधिक महत्व का एक दूसरा उद्देश्य था। यह उद्देश्य था उन पुरुषों को नैतिकता की शिक्षा देना, जो विवाह की खीझ व्यभिचार के दरवाज़े पर मिटाते थे।

मध्य युग का कविता-साहित्य प्रेम की इसी भावना की प्रशंसा से सराबोर है। साथ ही, उस काल का इतिहास इन कवियों के राजकीय दमन के उदाहरणों से भरा पड़ा है। एक नयी नैतिक व्यवस्था के रूप में यह साहसी वीरभाव यकायक फूट नहीं पड़ा था। सदियों तक यह भी भोग-लालसा में भीगा रहा। तत्कालीन धर्म के ठेकेदारों को इस पर लगातार हमले बोलते रहने का इसी कारण नैतिक आधार भी मिल गया।

परन्तु इस प्रकार के प्रेम के विरोध का वास्तविक कारण कुछ और ही था।

नयी आर्थिक शक्तियाँ सामन्तवाद की जड़ें हिला रही थीं। पूँजीवाद और पूँजीवाद की जनवादी विचारधारा का विकास हो रहा था। 'बिचवानियों' के ज़रिये तय किये गये विवाह, उत्तराधिकार के नियम, और व्यभिचार – ये थे सामन्तवाद के पाये। विवाह से परे प्रेम की भावना ने सामन्ती समाज-व्यवस्था की नींव को और भी कमज़ोर करना शुरू कर दिया। यही कारण है कि जो कवि ऐसे प्रेम की गाथा गाते उन्हें हमेशा अपनी जीभ काट लिये जाने या चौरस्ते पर फाँसी लगा दिये जाने का भय सताता रहता।

किन्तु इस नये नैतिक प्रेम की भावना का दमन व्यर्थ साबित हुआ। समय आया जब शेक्सपियर इस समस्या को निडर होकर लन्दन के रंगमंच पर पेश कर सके। हमारे स्कूलों में यह नहीं बताया जाता कि शेक्सपियर के नाटक "रोमियो एण्ड जूलियट" की पृष्ठभूमि क्या थी। किन्तु यह एक ठोस सत्य है कि यह नाटक एक राजनीतिक नाटक है। नाटक की विषय-वस्तु पुरानी ज़रूर है, किन्तु आज भी वह नाटक अत्यन्त भावपूर्ण दुखान्त नाटक बना हुआ है। इस नाटक ने प्रेम के लिए विवाह करने की नैतिक समस्या को सामने ला खड़ा किया। बड़े ही कलात्मक ढंग से शेक्सपियर ने दिखाया कि रोमियो और जूलियट, दोनों ही प्रेमी, अपने प्रेम की रक्षा के लिए प्राणों की बाजी लगा देते हैं। किन्तु नाटक की नवीनता यह बात नहीं थी। शेक्सपियर से पहले के कवि भी पुरुषों और वेश्याओं के बीच, दूसरे पुरुषों की पत्नियों से प्रेम के गीत गा चुके थे। "रोमियो एण्ड जूलियट" में नवीनता यह थी कि उसने दो सच्चे प्रेमियों की विवाह-इच्छा को इतनी सहृदयता से चित्रित किया कि दर्शकगण रो पड़ते हैं।

इस प्रकार के विवाह के लिए पुरुष और स्त्री के अधिकार को आज हम बिना ज़्यादा मीन-मेख स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु इतिहासकार सोवियत वैज्ञानिकों के मतानुसार प्रेम के लिए विवाह करना उस काल में एक क्रान्तिकारी भावना थी। उनका कहना है कि मध्य युग में विवाह एक राजनीतिक क्रिया थी। विवाह का उद्देश्य नवाबज़ादों से लेकर सामन्तों तक की शक्ति का सिक्का बैठाना था। और इस क्रिया को सरल बनाने वाली थी औरत – चाहे वह किसी सामन्त के प्राचीर में क़ैद शहज़ादी हो, चाहे झोपड़ी में तड़पने वाली किसान की ग़रीब लड़की। उस काल की विवाह-प्रथा एक ओर तो वेश्यावृत्ति को पुरुषों के लिए आवश्यक बताकर व्यभिचार को खुली छूट देती थी, दूसरी ओर वह विवाहित स्त्रियों को अपने सच्चे प्रेमी के प्रति प्रेम प्रकट करने से रोकती थी। सोवियत वैज्ञानिकों की नैतिकता सम्बन्धी खोजबीन का एक अनूठा तथ्य यह है कि प्रेम पर आधारित विवाह-सम्बन्ध समाज में तभी सम्भव हुआ, जब पूँजीवाद ने सामन्तवाद को उखाड़ फेंका। मुक्त प्रतिद्वन्द्विता (फ़्री एण्टरप्राइज़) का नैतिकता पर गहरा असर

पड़ा। पहली बार व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रश्न को, एक बुनियादी नैतिक उसूल को, जनवाद ने उठाया। पहली बार यह उसूल सामने आया कि प्रत्येक मनुष्य अपने सभी क्रिया-कलापों में स्वतन्त्र है; वह अपनी मर्ज़ी का नौकरी-पेशा चुन सकता है, जैसे चाहे वैसे कपड़े पहन सकता है, समाज में उसका स्थान नीचा हो या ऊँचा वह चाहे जितना पैसा कमा सकता है, जहाँ चाहे वहाँ जाकर रह सकता है, इत्यादि। ये विचार उन दिनों के लिए बड़े क्रान्तिकारी विचार थे। इन विचारों के प्रभाव से ही ईसाई धर्म में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यद्यपि ऐसे धर्मशास्त्री मौजूद हैं जो कहेंगे कि ईसामसीह के आदेशों में भी स्वतन्त्रता का प्रमुख स्थान है, कि कोई भी व्यक्ति ऐसा काम करने को मजबूर नहीं किया जा सकता जिसके लिए उसकी आत्मा गवाही न देती हो, परन्तु मध्य युग में ये विचार निस्सन्देह धर्म-विरोधी माने जाते थे। सामन्तवाद और गिरजा, दोनों ही, इन विचारों के आदि से अन्त तक विरोधी थे। कारण यह कि दोनों ही मनुष्य के जन्मकाल से मृत्यु तक ज़बरदस्ती काम कराने के सिद्धान्त पर टिके हुए थे। ज्यों-ज्यों पुरानी व्यवस्था ढहती गयी त्यों-त्यों क़ानून, धर्म और नैतिकता में महत्वपूर्ण परिवर्तन होते गये।

पूँजीवाद के अन्तर्गत ही इतिहास में पहली बार यह सम्भव हुआ कि विवाह सच्ची नैतिकता पर आधारित हुआ, अनैतिक ज़ोर-ज़बरदस्ती की बेड़ियों से विवाह-प्रथा मुक्त हुई। पहले, विवाह मोल-भाव की चीज़ थे। बड़े-बड़े राव-राजे जो कहते, वही होता। परन्तु जनवाद ने सीधा प्रश्न उठाया : जब समाज में सभी सम्बन्ध भिन्न-भिन्न दलों की निजी इच्छा पर आधारित होते हैं तो विवाह के सम्बन्ध पर – जिसके द्वारा दो प्राणी एक-दूसरे से बँधते हैं – हम कैसे प्रतिबन्ध लगा सकते हैं? यह अत्यन्त पवित्र सम्बन्ध होता है। इसमें दो शरीर और दो प्रेमी जीवन-भर के लिए एक-दूसरे के हो जाते हैं। इसीलिए मनुष्यों का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वे प्रेम के लिए विवाह करें। और प्रत्येक ऐसा विवाह जो पुरुष और स्त्री के आपसी प्रेम पर आधारित नहीं होता, अनैतिक विवाह होता है।

ऊपर कही गयी बात हमें बहुत सीधी-सादी मालूम होती है। हम लोगों को ऐसे पुरुष और ऐसी स्त्री से घृणा करना सिखाया गया है जिनका विवाह प्रेम के अलावा किसी और लोभ-लालसा पर आधारित हो। इसीलिए हम उन जनवादी नैतिक विचारों के क्रान्तिकारी तत्व को यकायक नहीं पकड़ पाते जिन्होंने पहले के तमाम रूढ़िवादी नैतिक विचारों से लोहा लिया।

सोवियत विशेषज्ञों ने कहा : पूँजीवादी जनवाद के इन्द्रिय सम्बन्धों में जो सुधार किये उनका असर विवाह पर उतना ज़्यादा नहीं पड़ा जितना कि स्त्री की सामाजिक स्थिति पर; इस बात को क़ानूनी और नैतिक मान्यता दी गयी कि **स्त्री को भी प्रेम करने का अधिकार है और इससे उसकी इज़्ज़त में बट्टा नहीं लगेगा।**

यह एक ऐसा ऐतिहासिक तथ्य है जिसे हमारे नीति शास्त्रियों ने कभी पेश नहीं किया। इस तथ्य को वे समझते भी हैं, इसमें सन्देह है।

सोवियत वैज्ञानिकों ने इसे इतना महत्व दिया कि इसे उन्होंने अपने तमाम नैतिक आदर्शों की आधार-शिला बना लिया।

क्यों?

इसलिए कि पहले तो यह इस धारणा की धज्जियाँ उड़ा देता है कि प्रेम, विवाह और नैतिकता युग-युग से अपरिवर्तित रहे हैं। इतिहास साबित करता है कि नैतिकता-सम्बन्धी आदर्शों में न सिर्फ़ समय-समय पर परिवर्तन हुए हैं, बल्कि पूँजीवाद और जनवाद के विकास ने उन्हें एकदम बदल दिया है।

सामन्तवाद के अन्तर्गत इस बात की कल्पना कर सकना भी कठिन था कि प्रेम के लिए विवाह करना नैतिक रूप से सही है। आज तो हमारे लिए यह कल्पना कर सकना कठिन हो गया है कि प्रेम के अलावा और किसी इच्छा से विवाह करना नैतिक रूप से सही है। सामन्तवाद के दिनों में समाज के बड़े-बड़े ठेकेदार व्यभिचार के स्थानों की खुल्लमखुल्ला प्रशंसा करते और उन्हें बढ़ावा देते थे। इसे अनुचित भी नहीं समझा जाता था; न तो समाज और न धर्म ही इसे अनुचित ठहराता था। किन्तु जनवाद की जड़ें मज़बूत हो जाने के बाद व्यभिचार का संगठित अस्तित्व समाज के लिए असहनीय हो गया।

दरअसल किसी भी चीज़ में इतना परिवर्तन नहीं हुआ है जितना प्रेम, भोग, नैतिक आदर्शों और पाप के सम्बन्ध में मनुष्यों के विचारों और अमल में।

इतिहास के तथ्यों से एक दूसरा निष्कर्ष जो निकलता है, वह यह कि हम किसी भी दृष्टिकोण से क्यों न सोचें, नैतिकता में बहुत बड़ा सुधार हुआ है। इस सम्बन्ध में एक ईमानदार वैज्ञानिक और एक ईमानदार पादरी की एक ही राय होगी – भले ही वैज्ञानिक केवल इस बात की दुहाई दे कि फ़्रांसीसी क्रान्ति के पहले यूरोप में सिफलिस के मरीजों की संख्या बेशुमार थी और पादरी केवल इस बात पर आँसू बहाये कि मध्य युग में करोड़ों औरतों को नरक की ज़िन्दगी बितानी पड़ती थी। पर इसमें सन्देह नहीं कि मानव जाति में पहले के मुक़ाबले अनैतिकता की मात्रा अब कम है।

हमारा अन्तिम निष्कर्ष समाज में स्त्रियों की वर्तमान स्थिति के बारे में है। जैसा कि हम देख चुके हैं, पूँजीवादी जनवाद ने पहले-पहल स्त्रियों को अधिकार दिया कि वे प्रेम कर सकती हैं और इससे उनकी इज़्ज़त में बट्टा नहीं लगेगा। उन्हें इस बात का अधिकार मिला कि वे प्रेम के लिए विवाह करें। सोवियत वैज्ञानिक

जब इस ऐतिहासिक तथ्य की जाँच-पड़ताल कर रहे थे, तभी वे इसकी कमज़ोरी को भी पकड़ सके। प्रेम के लिए विवाह करने का स्त्री का अधिकार ऐसी चीज़ नहीं है, जिसे क़ानूनी हिदायतों से सम्भव बनाया जा सके। क़ानून तो सिर्फ़ इस बात की रोकथाम कर सकता है कि अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ किसी भी औरत का विवाह न किया जाये; दरअसल, क़रीब-क़रीब सभी सभ्य देशों में यह क़ानून है भी। किन्तु कोई भी क़ानून इस बात की गारण्टी नहीं कर सकता कि प्रत्येक स्त्री वास्तव में सच्चे प्रेम के लिए विवाह करने को स्वतन्त्र होगी। इस स्वतन्त्रता के लिए ज़रूरत होती है स्त्री की पूर्ण सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता की। इसके लिए ज़रूरत होती है कि इस बात की कि स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार हासिल हों।

क्या ये अधिकार उन्हें हासिल हैं?

नवम्बर क्रान्ति के बाद यह दिखायी देने लगा था कि सोवियत सरकार के घोषण-पत्रों में तो स्त्रियों के समानाधिकार की बात की गयी है, किन्तु यह कोरी काग़ज़ी बात है क्योंकि अमल में वे इन अधिकारों को नहीं पा रही थीं। अपने अनुभव के आधार पर इस असमानता के एक पक्ष को तो हम समझ लेते हैं। सन 1920 के लगभग गोर्की और लेनिन ने जिस "बन्धन रहित प्रेम" पर क़रारा हमला किया था, उसका उद्देश्य महिलाओं को – जो "पानी का गिलास" थीं – उच्छृंखल इन्द्रिय भोग की पुरुषों के ही समान – जो "पीने वाले" थे – पूरी छूट देना था। इस तरह की स्वतन्त्रता वास्तव में बड़ी घृणास्पद थी। अपने को वे कितनी ही बड़ी क्रान्तिकारिणी बघारने वाली क्यों न हों, जिन रूसी महिलाओं ने भी उच्छृंखल इन्द्रिय भोग का रस लेने की चेष्टा की, उनके सामने ज़िन्दगी का एक बुनियादी सत्य आ खड़ा हुआ।

तमाम क़ानूनों और नैतिक आदर्शों से बड़ा शरीर-विज्ञान सम्बन्धी यह तथ्य है कि पुरुष और स्त्री समान नहीं हैं। शारीरिक तत्व में स्त्री पुरुष से ज़्यादा बढ़ी-चढ़ी है। भोग-लालसा को तृप्त करने में पुरुष और स्त्री दोनों को ही क्षणिक इन्द्रिय सुख का अनुभव होता है। किन्तु शिशु को जन्म देने, मानव जाति को आगे बढ़ाने, मनुष्य परिवार के विकास को सम्भव बनाने का महान कार्य केवल स्त्री कर सकती है।

और वास्तविक जीवन में इस महान कार्य के एवज में समाज स्त्री का आदर किस तरह करता है? मातृत्व पर कड़े प्रतिबन्ध लगा कर।

मातृत्व की दशा में स्त्री को नौकरी छोड़नी पड़ती है। उसे ही समूची शारीरिक वेदना बर्दाश्त करनी पड़ती है। शिशु की देख-रेख का उसी पर दारोमदार होता है। सोवियत रूस में अनैतिकता की समस्या के हल होने के पूर्वकाल में जो

स्थिति थी वैसी ही हमारे देशों में आज है : बच्चों की देख-रेख से स्त्री के फ़ुर्सत पाने का एक ही उपाय था कि इस बोझ को वह अपने पति पर झोंक दे। विवाह के बाद स्त्री पराधीन हो जाती है। ऐसी कोई बन्दिश पुरुष के लिए नहीं है।

ऐसी परिस्थितियों में पुरुष और स्त्री के बीच समानता की बात कोरी गप्प है। यद्यपि यह सच है कि जनवाद और पूँजीवाद ने स्त्री को उस स्थिति से मुक्त किया, जिसके अन्तर्गत उसे ऐसे पुरुष से विवाह करना पड़ता था जिसके लिए उसके हृदय में प्रेमभाव की मात्रा नाम को भी नहीं होती थी, पर जिसे दूसरे लोग सामन्ती उसूलों के मुताबिक़ उसके लिए चुन देते थे। किन्तु बहुसंख्यक स्त्रियों के लिए, जो अपनी मर्ज़ी का पति चाहती थीं, अनेक अमली, सामाजिक और आर्थिक प्रतिबन्ध बने रहे। विवाह के अवसर पर उन्हें अपनी स्वाधीनता की काफ़ी क़ुर्बानी करनी पड़ती। स्त्रियों का "उद्धार" करने वालों के प्रयत्न विफल रहे क्योंकि जिन बेड़ियों में आज स्त्री जकड़ी हुई है वे आर्थिक बेड़ियाँ हैं; शारीरिक तत्व सम्बन्धी तथ्य इन बेड़ियों को और भी मज़बूत बना देते हैं।

यह बहुत दिलचस्प बात है कि हिटलरी जर्मनी के नीतिशास्त्री स्त्री की इस असमानता के गौरवगान गाते नहीं अघाये। हमारे यहाँ के प्रतिक्रियावादी भी इसी नारे की नक़ल टीपते हैं : औरतों को चाहिए ही क्या?...बच्चे, चूल्हा-चक्की और भगवान की पूजा।"

हिटलर द्वारा इस सड़े-गले सामन्ती आदर्श की पुनरावृत्ति के बहुत साल पहले ही सोवियत अधिकारी इसके खोखलेपन को दिखा चुके थे। वे दिखा चुके थे कि यह 'आदर्श' स्त्री को पुरुष के समान अधिकार देने से इन्कार करना है। उन्होंने कहा : आज की दुनिया में अनैतिकता की जड़ यही है।

अनूठा प्रश्न–पत्र

"रूसी जनता के जीवन के पुनर्निर्माण का कार्य लेनिन और उनके अनुयाइयों ने रूसी पुरुष से नहीं, रूसी स्त्री के जीवन से शुरू किया।"

सोवियत रूस के अपने अध्ययन **सोवियत कम्युनिज़्म - एक नयी सभ्यता?** में लॉर्ड और लेडी पैस्फ़ील्ड इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। उन्हें पता चला कि सोवियत नेताओं ने कभी अपने आपको स्त्रियों के "उद्धारक" घोषित नहीं किया। उन्होंने अपने आपको स्त्रियों के इन्हीं हक़ों के संघर्ष तक सीमित नहीं रखा कि स्त्रियाँ ऊँची या नीची जैसी चाहें 'स्कर्ट' पहन सकती हैं, कि वे चाहें तो बाज़ार में सिगरेट भी पी सकती हैं, कि क़ानून की नज़र में वे पुरुष के समान ही हैं। उन्होंने स्त्रियों के इन हक़ों की भर्त्सना की कि वे जिस पुरुष से चाहें सम्बन्ध स्थापित कर सकती हैं। उन्होंने पुरुषों के भी इन हक़ों की भर्त्सना की। यह जान लेना ज़रूरी है कि सोवियत रूस में स्त्रियों की स्वाधीनता के लिए जो कार्यक्रम बनाया गया, वह केवल "स्त्रियों के हित का" नहीं, समूची मानव जाति के हित का था।

सोवियत वैज्ञानिकों ने यह मत पेश किया कि मानव जाति को सुधार सकना तब तक असम्भव है जब तक पुरुष और स्त्री के बीच असमानता मौजूद है। अनैतिकता और व्यभिचार पर आक्रमण करते हुए उन्होंने पुरुष और स्त्री के बीच भेद नहीं किया। सोवियत रूस से बाहर के बहुत कम लोग इस बात को जानते हैं कि लगभग 25 वर्ष पहले ही लेनिन ने घोषणा की थी कि स्त्री की असमानता को खत्म करना आज की दुनिया के सामने एक महत्वपूर्ण समस्या है। सच्चाई तो यह है कि सोवियत रूस के उन विशाल जन-क्षेत्रों में जहाँ इस्लाम धर्म का बोलबाला था, स्त्रियों की स्वाधीनता का प्रश्न दूसरे सभी राजनीतिक प्रश्नों से ज़्यादा महत्वपूर्ण माना गया।

नीचे हम संक्षेप में उन क़ानूनों का ब्योरा दे रहे हैं जो सोवियत सरकार ने इस सम्बन्ध में बनाये :

(1) औरतों को वोट देने और सरकारी संस्थाओं के लिए चुने जाने का हक़ मिला। तमाम सभ्य देशों में इस हक़ को माना तो जाता है, मगर अमल में इसका इस्तेमाल नहीं होता। हमारे यहाँ की औरतें वोट तो दे सकती हैं, किन्तु क़ानून बनाने और उसे लागू करने का हक़ केवल पुरुषों को है।

(2) तमाम नागरिक अधिकार और क़ानूनी प्रतिबन्ध पुरुष और स्त्री पर समान रूप से लागू हों। इतिहास में पहली बार अदालतों के सामने पुरुष और स्त्री को समान अधिकार और समान ज़िम्मेदारी मिली।

(3) उस पुरुष के लिए, भले ही वह पिता क्यों न हो, जो किसी स्त्री का उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ विवाह करता है, कड़ी से कड़ी सज़ा की व्यवस्था की गयी। यह क़ानून कोई नया क्रान्तिकारी क़ानून नहीं था। क्रान्तिकारी बात सिर्फ़ इतनी थी कि इसे सख़्ती से लागू किया गया। हमारे देशों में ऐसे क़ानूनों को बहुधा तभी अमल में लाया जाता है जब स्त्री के साथ शारीरिक रूप से क्रूरता बरती जाती है।

(4) बीसियों ऐसे नियम और क़ानून बने जिनसे स्त्रियों की आर्थिक स्वाधीनता की गारण्टी हुई।

हमारे देशों में हालत यह है कि औरत के नौकरी करने के हक़ को, भले ही वह विवाहित हो या अविवाहित, क़ानूनी मान्यता नहीं दी गयी; औरतें चाहें तो नौकरी करें चाहे न करें। सोवियत रूस में इसकी क़ानूनी गारण्टी की गयी। ऊपर से देखने में यह बेज़रूरत भेद मालूम होता है। कम-से-कम युद्धकाल में तो हमने देखा कि औरतों के लिए नौकरियों का बाज़ार खुल गया था। किन्तु यह परिस्थिति उत्पन्न हुई पुरुषों की कमी के कारण। अब यह आन्दोलन ज़ोर पकड़ रहा है कि औरतें नौकरियाँ छोड़कर घर का काम-धन्धा सँभालें। भय है कि युद्ध समाप्त होने के बाद पुरुषों और स्त्रियों के लिए काफ़ी नौकरियाँ न मिल सकेंगी। यहाँ भी यही भावना काम कर रही है कि बेरोज़गारी बढ़ने पर स्त्रियों की बजाय पुरुषों को काम मिलना चाहिए। हमारे मज़दूर संगठन भी इस संघर्ष में असफल रहे हैं कि स्त्रियों को "समान काम के लिए समान वेतन" मिले। इस माँग को भी कहीं-कहीं ही, और वह भी बड़ी मुश्किल से, माना गया है कि औद्योगिक केन्द्रों में काम करने वाली स्त्रियों को अपने बच्चे दिन-भर शिशुशाला में छोड़ने की सुविधा मिले।

नयी पीढ़ी की रूसी महिलाओं में काम-धन्धे की तरफ़ एक नया नज़रिया है। काम-धन्धे के लिए पुरुष और स्त्रियों के लिए समान सुविधाएँ प्रस्तुत करते समय सोवियत अधिकारियों का ध्यान जिन बातों पर गया उनमें से मुख्य आर्थिक उन्नति नहीं, नैतिक उन्नति थी। वहाँ के वैज्ञानिक और विशेषज्ञ भली-भाँति

जानते थे कि औरतों के 'उद्धार' की तमाम बातें तब तक थोथी गप्पें ही रहेंगी, जब तक औरतों को औरत होने के आर्थिक दण्ड से मुक्त नहीं किया जाता। पर वे यह भी जानते थे कि औरतों की आर्थिक स्थिति को कोई क़ानून बनाकर चटपट नहीं बदला जा सकता। इस दरम्यान अनैतिकता की तमाम समस्याएँ ज्यों-की-त्यों क़ायम रहीं।

क्रान्ति के चार साल बाद, सन 1921 में, रूसी अधिकारियों को मालूम हुआ कि व्यभिचार में निश्चित वृद्धि हुई है। इसका कारण देश का आन्तरिक संकट था, जो विदेशी आक्रमणकारियों के ख़िलाफ़ लम्बी लड़ाई के फलस्वरूप पैदा हो गया था। इसके अलावा, आर्थिक निर्माण की योजनाएँ अभी तक शुरू नहीं हुई थीं। बेरोज़गारी बुरी तरह फैल रही थी। बेरोज़गारों में दो-तिहाई संख्या औरतों की थी। युद्ध से ध्वस्त देश में, इन औरतों की स्थिति बड़ी ही दयनीय हो गयी थी। दो साल तक अनैतिकता में लगातार वृद्धि होती रही।

सोवियत वैज्ञानिकों ने दुराचार के ख़िलाफ़ आम हमला बोला सन 1923 में। उनके पहले हमले ने ही बड़ी सनसनी पैदा कर दी। इससे पहले कभी कोई ऐसी चीज़ नहीं हुई थी। एक प्रश्न-पत्र छपवाया गया। इस प्रश्न-पत्र को बड़े गुप्त तरीक़े से हज़ारों औरतों और लड़कियों के बीच घुमाया गया। यह प्रश्न-पत्र डॉक्टरों, मनोवैज्ञानिकों, मज़दूर संगठनों के नेताओं तथा दूसरे विशेषज्ञों ने तैयार किया था।

यहाँ प्रश्नों की सूची पेश करना सम्भव नहीं। प्रश्नों के पीछे एक महान् उद्देश्य था। वह उद्देश्य यह पता लगाना था कि किन परिस्थितियों में स्त्री अपना शरीर बेचने के लिए तैयार हो जाती है।

इस बात का पता लगाने का कि महिलाएँ क्योंकर अनैतिक हो जाती हैं एक व्यापक पैमाने पर यह पहला प्रयत्न था। सदियों से यह जटिल प्रश्न पूछा जा रहा था। ऐसे साहित्य की कमी नहीं जो सुप्रसिद्ध वेश्याओं के "दर्द भरे बयानों" से भरपूर हो। पर आमतौर पर ऐसा साहित्य बनावटी और झूठा होता है। चिकित्सकों और मनोवैज्ञानिकों ने निरन्तर इस बात का पता लगाने का प्रयत्न किया है कि पाप का प्रारम्भ कैसे होता है। सोवियत रूस में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया - कुछ गिने-चुने बदचलन पुरुष-स्त्रियों से इक्के-दुक्के सवाल पूछकर या उनका मनोविश्लेषण करके नहीं, बल्कि समाज के हर स्तर की, हर उम्र की और भिन्न-भिन्न स्वभाव वाली अनगिनत महिलाओं से प्रश्न पूछकर। सभी उत्तर लिखित थे। उत्तर बड़े गुप्त रूप से दिये गये थे।

इस अनूठे प्रश्न-पत्र ने कई पुरानी धाराणाओं की चिन्दी-चिन्दी उड़ा दी। सबसे ज़्यादा ताज्जुब पड़ताल करने वालों को इस बात से हुआ कि ये उत्तर

बिल्कुल स्पष्ट होते थे और यह इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि उत्तर देने वाले को पूरा विश्वास दिला दिया जाता था कि उसके उत्तर गुप्त ही रहेंगे।

औसत आदमी को सबसे ज़्यादा चौंका देने वाली बात यह थी कि आमतौर से पेशेवर अनैतिक महिलाओं की संख्या और दूसरी तमाम महिलाओं की संख्या में कोई ख़ास अन्तर नहीं था। विवाहित और अविवाहित, दोनों ही तरह की, बेशुमार महिलाओं ने बताया कि किन्हीं ख़ास परिस्थितियों में सभी ने एक-न-एक मौक़े पर प्रेम-भावना से परे, दूसरे स्वार्थों के कारण, अनुचित इन्द्रिय-भोग किया था।

कुछ ने अनैतिकता सम्बन्धी एक ही तजुर्बे का उल्लेख किया। कुछ ने अनेक का। कुछ ने अपने उत्तरों में बताया कि उन्होंने कई बार व्यभिचार को ही अपनी रोटी का ज़रिया बनाया था। पर उन पर "वेश्या" का दाग़ न लगने पाया था। अपनी इस तरह की बहनों के अनुभवों से परिचित कुछ महिलाओं का कहना था कि जब ये महिलाएँ अपने को पेशेवर वेश्या नहीं कहतीं तो हम अपने को क्यों कहें। जिन महिलाओं ने माना कि व्यभिचार को ही उन्होंने अपने जीवन का आधार बनाया था, उनमें से ज़्यादा-से-ज़्यादा ने यही कहा कि ईमानदारी से कमाया पैसा उनके और उन पर निर्भर लोगों के लिए बहुत कम था, इसलिए उन्हें व्यभिचार को अपना सम्बल बनाना पड़ा।

इस सम्बन्ध में अधिक विवेचना हम आगे प्रस्तुत करेंगे। सोवियत विशेषज्ञों ने जो निष्कर्ष निकाले वे हमारे देशों में प्रचलित वैज्ञानिक और नैतिक विचारों से भिन्न हैं। इसलिए यहाँ रुक कर देख लेना ज़रूरी है कि अब तक इस क्षेत्र में क्या किया गया था।

प्रश्न है : वेश्या कहते किसे हैं?

यह शब्द बहुधा उन महिलाओं तक सीमित रहा है जो नक़द रक़म के लिए अपने शरीर को भिन्न-भिन्न पुरुषों को बार-बार बेचती हैं।

किन्तु जब से नयी सामाजिक जाँच-पड़ताल शुरू हुई है, तब से परिभाषा अपर्याप्त समझी जाने लगी है। हमारे विशेषज्ञों का तो यह मत है कि जो महिलाएँ इन्द्रिय-रोगों को फैलाती हैं, उनमें से दो-तिहाई ऐसी हैं जिन्हें हम खुल्लमखुल्ला वेश्या नहीं कह सकते। इन ग़ैरपेशा अनैतिक महिलाओं के अनेक वर्गों में से ही हमारी "विक्ट्री गर्ल्स" भी हैं। दूसरे छोर पर वे मनोवैज्ञानिक हैं जिन्होंने अनैतिकता की परिभाषा यह पेश करने की कोशिश की है कि प्रेम में बँधे दो प्रेमियों के इन्द्रिय-सम्बन्ध के अलावा बाक़ी सभी इन्द्रिय-सम्बन्ध अनैतिक हैं। यहाँ भी तथ्य हमको घपले में डाल देते हैं। इस महाद्वीप पर और सोवियत रूस में हुई जाँच-पड़तालें बताती हैं कि ऐसी महिलाओं की संख्या कम नहीं जो

किसी भी अजनबी से "प्रेम" करने को तैयार हो जाती हैं, बशर्ते कि उन्हें वह अपने साथ शाम के खेल-तमाशों में ले जाने को तैयार हो। हमारे लिए इन दो महिलाओं में नैतिक भेद करना कठिन हो जाता है : एक, वह जो अपने कमरे का किराया न दे सकने के कारण व्यभिचार के बाद नक़द रक़म ले लेती है; और दूसरी, वह जो नक़द रक़म लेने के बजाय बदले में होटल में क़ीमती भोजन करना और सिनेमा देखना ज़्यादा ठीक समझती है। भेद यदि है तो सम्भवत: ईमानदारी का। प्रेम तो न पहली को होता है, न दूसरी को। हाँ, पहली की ग़रीबी उसे ईमानदारी से नक़द रक़म लेने को मजबूर कर देती है।

धर्म का यह कहना है कि विवाहित पति के अलावा किसी के साथ इन्द्रिय-भोग अनैतिक है - भले ही वह धन के लिए हो या प्रेम के लिए। यहाँ यह जान लेना ज़रूरी है कि नैतिकता के प्रति यह दृष्टिकोण सोवियत रूस में बरसों माना गया है। इसमें कोई शक नहीं कि नैतिकता सम्बन्धी सैद्धान्तिक विचारों में कम्युनिस्ट नेताओं और पादरियों के बीच ज़मीन आसमान का अन्तर है। पर सिद्धान्तों की कसौटी तो उनका अमल है।

युद्ध के दौरान जो लोग सोवियत रूस गये थे, उन्होंने बताया कि शायद ही कोई ऐसी सोवियत महिला किसी को मिले जो अपने पति को छोड़ दूसरे से घनिष्ठता रखे। कितने ही सालों तक सोवियत नवयुवक तो औरतों की पीठ तक थपथपाना असभ्यतापूर्ण मानते रहें। हाँ, युद्ध के दौरान जहाँ-जहाँ जर्मन आक्रान्ताओं ने क़ब्ज़ा किया उन्होंने अपने कुत्सित नैतिक "आदर्शों" की भी छाप छोड़ी। पर इन "आदर्शों" का रंग बहुत थोड़े सोवियत नागरिकों पर चढ़ पाया। यह बात मैं व्यक्तिगत निरीक्षण के बल पर दावे से कह रहा हूँ। मैंने कई सोवियत प्रदेशों का दौरा किया और वहाँ रहा भी। मैं ऐसे प्रदेशों में भी रहा जहाँ दुश्मन घुसने नहीं पाया था और ऐसों में भी जिन्हें फासिस्ट आतताइयों ने रौंद डाला था। किन्तु आज, दोनों जगहों की आबादी में कोई ख़ास फ़र्क़ देखने में नहीं आता। सोवियत नैतिकता का स्तर कितना ऊँचा है, यह जानकर आश्चर्य होता है - हम इसका विस्तार से वर्णन आगे करेंगे। सोवियत नैतिकता के मुक़ाबले "पश्चिमी दुनिया' की हालत देखकर दुख होता है।

इस अन्तर को हम और विस्तार से समझ लें।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अधिकांश धर्मपरायण लोग विवाह को एक सामाजिक और पवित्र बन्धन मानते हैं। वे विवाह को एक ऐसा बन्धन मानते हैं जो अटूट होता है और जिसमें पति-पत्नी की घनिष्ठता आवश्यक होती है - भले ही वे एक-दूसरे से प्रेम करते रहें या नहीं। दरअसल आज के अधिकांश क़ानून तो यही कहते हैं कि प्रेम ख़त्म हो जाने पर भी पति-पत्नी

विवाह बन्धन के ही अधीन रहें। हर कुलीन महिला कम-से-कम आधा दर्जन सहेलियों के नाम गिना सकती है जो विवाह बन्धन में अब भी सिर्फ़ इसलिए बँधी हुई हैं कि उनके सामने छुटकारे का कोई रास्ता नहीं, क्योंकि वे और उनके बच्चे पति पर आर्थिक रूप से निर्भर हैं। क्या नैतिक आधार है ऐसे सम्बन्धों का? वर्तमान मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि एक सम्मानपूर्ण पत्नी पर इसका उतना ही बुरा असर पड़ता है, जितना खुल्लमखुल्ला व्यभिचार का। सोवियत जनता ऐसे विवाह को अनैतिक और घृणास्पद समझती है।

बिना ज़्यादा रद्दोबदल किये हम अपने विचारों में सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न करें। विवाह के प्रश्न को उच्च नैतिक दृष्टिकोण से देखने पर सम्भवत: ऐसे सभी इन्द्रिय-सम्बन्ध हमें अनुचित लगेंगे जो प्रेम पर आधारित नहीं हैं; हम उन सभी सम्बन्धों को भी अनुचित समझेंगे जिनमें खुले या छिपे रूप में पैसे का लेन-देन होता है। अब हम अनैतिकता के ख़िलाफ़ अमली, सामाजिक संघर्ष को ज़्यादा अच्छी तरह समझ सकेंगे।

अनैतिकता के ख़िलाफ़ ऐसा कोई संघर्ष तब तक नहीं छिड़ा था जब तक पूँजीवादी व्यवस्था ने सामन्ती व्यवस्था का ध्वंस नहीं कर दिया। व्यभिचार के ख़िलाफ़ संगठित संघर्ष केवल दुराचार को दूर करने के लिए नहीं बल्कि इन्द्रिय-रोगों को ख़त्म करने के लिए आवश्यक था। यूरोप में सिफलिस का रोग सोलहवीं सदी में शुरू हुआ। शायद यह हैती से आया था। पन्द्रहवीं सदी में अमेरिगो वेसपुच्ची की जीवनी में "उस बीमारी का जिसे हम फ़्रांसीसी बीमारी कहते हैं" ज़िक्र मिलता है। उसका कहना है कि कोलम्बस के साथ वापस लौटने वाले नाविक इस रोग को अमेरिका से अपने साथ लाये थे। वेश्याओं ने इसे इन लोगों से पाया। फिर यह स्पेन-भर में फैल गया। यहाँ से चार्ल्स अष्टम की सेनाएँ इसे इटली लायीं।

दूसरे अधिकारियों का कहना है कि 1495 में चार्ल्स ने जब नेपल्स जीता तो अस्सी दिन और अस्सी रात वहाँ उच्छृंखलता का साम्राज्य रहा। वहीं से यह बीमारी फैली। यह भी कहा जाता है कि शत्रु की सेनाओं में इस बीमारी को फैलाने के लिए जानबूझकर सिफलिस रोग से पीड़ित वेश्याओं को भेजा गया था।

सच्चाई जो भी हो, नयी शताब्दी शुरू होते-होते इन्द्रिय-रोगों का ख़तरा इतना बढ़ गया कि राज्य के अधिकारियों और धर्म के ठेकेदारों के कान खड़े होने लगे। जिस किसी को भी यह बीमारी हुई, उसे अपराधी घोषित किया जाने लगा। बादशाह मैक्सिमिलियन ने एक राज-घोषणा जारी की। घोषणा में इस रोग को 'बोइज ब्लैटर्न' कहा गया अर्थात ऐसा रोग "जिसको पहले न तो किसी ने देखा था और न जिसके बारे में कभी सुना था।" इस भयानक रोग को सेनाओं ने फ़्रांस

और जर्मनी में फैला दिया। इस रोग से पीड़ितों की बड़ी बुरी दशा की जाती थी। औरतों को तरह-तरह की यातनाएँ दी जातीं। उनका प्राणान्त तक कर दिया जाता था। इस बीमारी से पीड़ित पुरुषों और स्त्रियों को कोढ़ियों की तरह घर से निकाल दिया जाता। यही नहीं, समाज से ठुकराये गये लोगों की तरह उन्हें नगर और क़स्बों से दूर जाकर रहना पड़ता। कुछ ही वर्षों में यह बीमारी समूचे यूरोप और ब्रिटिश द्वीप समूह में फैल गयी।

बाद के सौ सालों का इतिहास इन्द्रिय-रोगों के ख़िलाफ़ फ़ौजी अधिकारियों के संघर्ष का इतिहास रहा। फ़ौज के साथ चलने वाली महिलाओं पर नये प्रतिबन्ध लगाये गये। सन 1515 में फ्रांसिस प्रथम ने हुक्म जारी किया कि फ़ौज के साथ चलने वाली ऐसी औरतों को पैदल चलना पड़ेगा; उसने कहा कि उन्हें अच्छे घोड़े देकर साथ चलने का बढ़ावा न दिया जाये। सन 1580 में बेल्जियम के धर्मधुरीण बादशाह अल्बर्ट की समझ में इस समस्या का चिकित्सा सम्बन्धी लक्षण पूरी तरह आ गया। उसने कड़ी ताक़ीद कर दी कि इन्द्रिय-रोग से पीड़ित कोई भी महिला उसकी फ़ौज में न "घुसने" पाये। कहने की ज़रूरत नहीं, इन रोगों की जाँच-पड़ताल सफल नहीं होती थी। बीमारी का ठीक-ठीक पता भी नहीं चलता था। शायद सबसे ज़्यादा रोगी लोग साफ़ बच भी निकलते थे। हुक्मों की पाबन्दी तोड़ने पर सज़ा दिन-पर-दिन कड़ी होती गयी। क़ानून उन्हें अपराधी ठहराता था। नैतिक रूप से वे घृणा के पात्र और पापी समझे जाते थे। किन्तु व्यवहार इस सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के सदा आड़े आता। आदर के पात्र बड़े-बड़े नवाबों और सामन्तों तथा उनकी बीवियों में भी सिफलिस रोग पाया जाता था। भयानक दण्डों से अपने आप को बचा नहीं पाते थे वे अभागे जिनके पास धन या पद की कमी होती। सैकड़ों वर्षों तक पुलिस का काम यही बन गया कि वह समय-समय पर सिफलिस की गन्दगी की सफ़ाई करती रहे। सिफलिस से पीड़ित वेश्याओं की नाक और कभी-कभी तो कान भी जल्लाद काट डालते थे। कभी-कभी उन्हें शराबी सैनिकों के बीच छोड़ दिया जाता और वे इन्हें पीट-पीटकर मार डालते थे।

अनैतिकता को रोकने के लिए बनाये गये प्रारम्भिक क़ानूनों में सबसे ज़्यादा दिलचस्प सम्राट लुई का मार्च 1769 का क़ानून है। इस क़ानून के मुताबिक़ वेश्याओं को गिरफ़्तार करके तीन महीने तक सिर्फ़ रोटी-पानी पर रखा जाता। बाद में "उस समय तक के लिए जब तक वे सुधर न जायें" उन्हें जेल में डाल दिया जाता। इस मानवतावादी क़ानून में आगे चलकर और भी मानवतावादी सुधार हुआ : जेल में ही वेश्याओं की चिकित्सा का प्रबन्ध किया गया। चिकित्सा का ख़र्चा फ़ौज के फ़ण्ड में से आता। सिफलिस का तब तक चूँकि कोई कारगर इलाज

नहीं था, इसलिए यह सोच सकना कठिन है कि इस प्रबन्ध से वेश्याओं को क्या लाभ होता होगा। फिर भी, अगर वे दुबारा गिरफ़्तार की जातीं तो उन्हें और लम्बी सज़ा मिलती। एक बात ज़रूर है। लुई ने सख़्त मनाही कर दी थी कि उन्हें शारीरिक यातना न दी जाये, न ही उनकी खिल्ली उड़ायी जाये। उस ज़माने के कुछ सिरफिरे लोगों का कहना था कि इस दया का एक ख़ास कारण था। वह यह कि बादशाह लुई के दरबार में काफ़ी वेश्याएँ परकी हुई थीं और उन्होंने बड़े ऊँचे-ऊँचे घरानों के लोगों पर अपना जादू डाल रखा था।

इन्द्रिय-रोगों के ख़िलाफ़ संघर्ष में प्रगति का परिचय हमें फ्रांसीसी क्रान्तिकाल के गणितज्ञ कारनौट की रिपोर्ट से मिलता है। 1793 में कारनौट ने देखा कि लुई के खेमे में लगभग तीन हज़ार औरतें हैं। उसने सिफलिस के आतंक को देखा। उसने कहा, दुश्मन के हथियार जितने लोगों का नुक़सान करते हैं, उससे दस गुना ज़्यादा नुक़सान सिफलिस की बीमारी करती है। चिकित्सकों की सलाह का तिरस्कार किया गया। नेपोलियन के राज्यकाल में शारीरिक यातना के दिन कुछ-कुछ फिर लौट आये। इन्द्रिय-रोगों से पीड़ित औरतों के ख़िलाफ़ नेपोलियन ने कई हुक्मनामे जारी किये। इन हुक्मनामों में कहा गया कि उन औरतों के बाल काट लिये जायें, उनके मुँह पर कालौंछ पोत दी जाये और खुलेआम उनकी बेइज़्ज़ती की जाये। चिकित्सा सम्बन्धी प्रगति फिर भी कुछ-कुछ जारी रही। कई जगहों पर तो स्थानीय अधिकारियों को इस रोग से पीड़ितों के लिए चिकित्सा-केन्द्र खोलने पड़े।

1811 में जर्मन सेना के सबसे बड़े केन्द्र रोस्टौक में चिकित्सकों का एक दल नियत किया गया। यह उन पहले दलों में से एक था जो किसी निश्चित क्षेत्र की तमाम औरतों की जाँच-पड़ताल के लिए नियुक्त किये गये थे। विशेष महत्व की बात यह है कि इस दल को चिकित्सा सम्बन्धी तमाम ख़र्चा बीमार औरतों के माता-पिता या व्यभिचार के लिए कमरे उठाने वाले लोगों से वसूल करने का अधिकार था।

कुछ ही दिनों बाद इस सामाजिक बीमारी को रोकने के लिए राज्य की ओर से व्यवस्थित प्रबन्ध किये जाने लगे। सन 1835 में प्रशा की पुलिस को हुक्म मिला कि जिन-जिन लोगों पर सिफलिस का रोगी होने का शक हो उन्हें निगरानी में रखा जाये। जब यह प्रयत्न भी असफल रहा, तो प्रशा के मन्त्रिमण्डल ने और कड़ा क़ानून पास किया। क़ानून यह पास हुआ कि बर्लिन के तमाम वेश्यागृह 18 महीने के भीतर-भीतर बन्द कर दिये जायें। बहुत से वेश्यागृह बन्द भी कर दिये गये। किन्तु परिणाम जो हुआ वह ज़रा भी हिम्मत बढ़ाने वाला न था : उस क्षेत्र के सैनिकों में सिफलिस-रोगियों की संख्या और भी बढ़ गयी। सेनापति

रैंगल ने 1848 में अपील की कि बन्द वेश्यागृह फिर खोल दिये जायें।

तब से जर्मनी तथा यूरोप के दूसरे देशों में कभी क़ानूनों की एकदम बढ़ती और कभी एकदम घटती होती रही। कभी तो पुलिस इस गन्दगी की सफ़ाई पर कमर कसकर वेश्यागृहों को बन्द करने में जुट पड़ती और कभी पुलिस द्वारा नियुक्त गिने-चुने डॉक्टरों की निगरानी में इन्हें फिर जल्दी-जल्दी खोलने की ज़रूरत आ पड़ती।

ब्रिटेन का अनुभव ख़ास दिलचस्प है। इंग्लैण्ड का नम्बर उन सभ्य देशों में सबसे आख़िरी था जिन्होंने सिफलिस के ख़िलाफ़ ज़ोरदार संघर्ष चलाने की ज़रूरत महसूस की। इसका कारण केवल अंग्रेज़ों का अनुदारपना नहीं था। ख़ास कारण यह था कि ब्रिटेन के चिकित्सकों ने यूरोप में किये गये प्रयोगों का बड़ी तत्परता से अध्ययन किया था और वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि ये प्रयोग कारगर नहीं होंगे। फिर भी, जून 1866 में "कुछ नौसेना और फ़ौजी केन्द्रों में छुआछूत की बीमारियों को कुशलता से रोकने का क़ानून" पास हुआ। इसे आमतौर पर छुआछूत की बीमारियों को रोकने का क़ानून कहते थे। क़ानून ने पुलिस को अधिकार दे दिया कि वह औरतों की ज़रूरी तौर पर डॉक्टरी जाँच करवाये और ज़रूरत समझे तो उन्हें अस्पताल में भर्ती करवा दे। इस क़ानून से कुछ ही दिनों में सिफलिस रोग नाविकों और फ़ौजियों में बहुत कम हो गया। पर न जाने क्यों ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने आठ साल बाद इस क़ानून को रद्द कर दिया।

प्रथम महायुद्ध से कुछ ही दिनों पहले सुप्रसिद्ध अंग्रेज़ डॉक्टर सर विलियम औसलर ने ब्रिटेन के कुछ जाने-माने डॉक्टरों के दस्तख़तों से टाइम्स अख़बार में एक ख़त छपवाया। इस ख़त में इन्द्रिय-रोगों की बढ़ती के प्रति चेतावनी दी गयी थी। इसे पढ़कर ब्रिटिश जनता चौंक पड़ी। अंग्रेज़ी भाषा में छपने वाला यह पहला वक्तव्य था, जिसमें सिफलिस रोग का साफ़-साफ़ नाम लिया गया था। चेतावनी के फलस्वरूप ही ऐसक्विथ सरकार ने इन्द्रिय-रोगों सम्बन्धी "सिडेनहम रॉयल कमीशन" की स्थापना की थी।

इस कमीशन ने युद्ध के दौरान अपनी रिपोर्ट पेश की। उसने औसलर की बातों की पुष्टि की। ब्रिटेन की दस प्रतिशत शहरी जनता सिफलिस रोग से पीड़ित थी। गिनोरिया से पीड़ितों की संख्या और भी ज़्यादा थी। ब्रिटेन के लगभग 63,000 निवासियों की हर साल सिफलिस से मौत होती थी। क्षय से मरने वालों के मुक़ाबले सिफलिस से मरने वालों की संख्या कहीं ज़्यादा थी। आज भी हालत क़रीब-क़रीब वैसी ही है।

इन्द्रिय-रोगों के विरुद्ध वैज्ञानिक संघर्ष के क्रमिक विकास का अध्ययन करने वाला व्यक्ति इस बात पर अचम्भा किये बिना नहीं रह सकता कि कुछ ही दिनों पहले तक इन्द्रिय-रोगों के बारे में आम जनता क़तई कुछ नहीं जानती थी। इन्द्रिय-रोगों के ख़िलाफ़ वैज्ञानिक उपायों को अपनाने में समाज ने क्यों इतनी देर की? आज के विशेषज्ञ इसका सारा दोष सामाजिक ढकोसले, धर्म या थोथी बड़प्पन-भावना पर मढ़ते हैं। सच्चाई यह है कि इन्द्रिय-भोग सम्बन्धी तमाम बातें लोगों को चिकित्सा के वैज्ञानिक विकास के बहुत दिनों बाद तक नहीं मालूम थीं। इस बात में विश्वास ज़रा कम होता है कि मानव जाति को यह मालूम हुए बहुत थोड़े दिन हुए हैं कि मानव-जन्म इन्द्रिय-भोग से होता है; पर यह बात बिल्कुल सच्ची है।

यूनानी सभ्यता के विकास से पहले स्त्री के गर्भ धारण करने का श्रेय भगवान की माया को दिया जाता था। किन्तु यूनानी दर्शनशास्त्रियों – जिनकी बुद्धि और क्षमता को बाद के इतिहासकारों ने बहुत बढ़ा-चढ़ाकर आँका है – की पहुँच सिर्फ़ यहीं तक हुई थी कि स्त्री के गर्भ धारण करने का श्रेय भगवान की माया को न होकर स्त्री को है। हिपोक्रेटीज ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना मनुष्य की प्रकृति (जो ईसा से लगभग 400 वर्ष पहले लिखी गयी थी) में कल्पना की थी कि पुरुष और स्त्री में "बीज" मौजूद रहते हैं – हालाँकि गर्भ धारण करने और स्त्री के रजस्वला होने की बातों में वह अस्पष्ट रहा। अरस्तू ने मनुष्यों और पशुओं की क्रिया की तुलना की। किन्तु मध्ययुग में ऐसी बातें कहना अधर्मपूर्ण ठहराया जाता था। उस काल में मनुष्य को अन्य सभी जीवों से श्रेष्ठ माना जाता था।

पश्चिमी विज्ञान के विकास के बहुत पहले ही चीनियों ने इस दिशा में बहुत प्रगति की। उन्होंने पुरुष और नारी के "तत्वों" पर काफ़ी सोच-विचार किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अपने आप न तो पुरुष, न स्त्री शिशु को जन्म दे सकते हैं। उनके पास ऐसे शब्द भी थे जिनसे हम "गर्भाशय" और "वीर्य" का अर्थ निकाल सकते हैं। वे जानते थे कि स्त्री का रजस्वला होना और स्त्री का गर्भवती होना दो अलग-अलग चीज़ें हैं।

मध्ययुग के पूरे दौर में जीवन के इस आधार तत्व से मनुष्य एकदम अनभिज्ञ रहे। इन्द्रियों के बारे में सहज सत्य जानने और खोजने का स्थान अन्धविश्वास, टोनों-टोटकों, जन्तर-मन्तर और झाड़फूँक ने ले लिया था। हम याद रखें कि उस काल में कल्पना तक नहीं की जा सकी थी कि शिशु का जन्म शारीरिक क्रिया से सम्बन्धित है।

सोलहवीं शताब्दी में लीबेनहुक ने माइक्रोस्कोप का निर्माण किया। किन्तु एक सौ बरस के बाद ही वह सामान जुटाया जा सका जिससे छोटी चीज़ें बड़ी दिखायी पड़ती हैं। तभी लीबेनहुक के चेले हैम ने शुक्रकीटों का पता लगाया। इसी बीच लीबेनहुक के एक दूसरे चेले ग्राफ़ को रजाण्डों का पता चला।

गर्भधारण के सिलसिले में अब एक सही सिद्धान्त का निरूपण सम्भव हो सका। फिर भी, शुक्रकीटों के गतिवान होने का पता सौ साल बाद ही चला। इसका पता लगाने वाला था स्पालन्जनी। पिछली शताब्दी में ही हर्टविग ने वह ऐतिहासिक प्रयोग किया था जिसमें रजाण्डों में शुक्रकीटों का प्रवेश देखा गया। प्रागैतिहासिक काल से 1875 तक गर्भधारण के ज्ञान के बारे में मानव-जाति निरे अन्धकार में थी।

इस बात को ज़ोर देकर बताने की ज़रूरत है कि 1875 से ही हमें यह मालूम हुआ कि किस तरह मनुष्य तथा दूसरे जीवों का जन्म होता है। इन्द्रियों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने में मानव जाति को कितने टेढ़े-मेढ़े रास्ते से होकर गुज़रना पड़ा है, अब यह हम अच्छी तरह समझ सकते हैं। इन्द्रिय-रोगों से हम सफलतापूर्वक नहीं लड़ सके, तो इसका कारण यह था कि इन्द्रियों के बारे में हमारा ज्ञान ही अपूर्ण था; हम विचित्र अन्धविश्वासों और कपोल-कल्पनाओं के शिकार बने हुए थे।

संक्षेप में, इन्द्रिय-रोगों के ख़िलाफ़ संघर्ष लगभग तीन सौ साल पहले शुरू हुआ। शुरू में यह संघर्ष वैज्ञानिक आधार पर नहीं चलाया गया था। ज्यों-ज्यों सिफलिस के भयानक दुष्परिणामों का पता चलने लगा त्यों-त्यों उसके निवारण के उपाय खोजे जाने लगे। थोड़े दिनों बाद ही पता चला कि इसे ज़्यादा-से-ज़्यादा लोगों में फैलाने का दारोमदार वेश्याओं पर है। व्यभिचार के बाज़ार की बदनामी बड़ी तेज़ी से बढ़ी, हालाँकि कई बरस तक वेश्यागृह समाज के लिए आवश्यक माने जाते थे। व्यभिचार पर पहले-पहल हमला बोला चिकित्सा ने; फिर धर्म ने; और फिर क़ानून ने।

किन्तु दो सौ साल तक अनैतिकता के ख़िलाफ़ संघर्ष बहुत ही ढीला-ढाला और असफल रहा।

फिर आया "सरकारी निगरानी" का युग। 'वर्जित मोहल्लों' की स्थापना हुई और किसी हद तक वहाँ डॉक्टरी कण्ट्रोल लागू किया गया। इसी समय सौदागरी में वृद्धि हुई और व्यभिचार पर इसका भारी असर पड़ा। औरतों की भी सौदेबाज़ी शुरू हो गयी। बड़े नियमित ढंग से व्यभिचार के लिए औरतें तैयार की जाने लगीं। व्यभिचार के ठेके चलाने वाले मनमाना मुनाफ़ा कमाने लगे। इस व्यापार की रोकथाम की कोशिश क़ानून ने की। पर इससे मुनाफ़ा इतना होने लगा था कि क़ानून को उसके सामने सिर झुका देना पड़ा।

अस्तु, व्यभिचार के "ख़ात्मे का आन्दोलन" शुरू हुआ। नये-नये क़ानून पास हुए। अधिकांश देशों में इस काम के लिए पुलिस के ख़ास दस्ते नियुक्त किये गये। चिकित्सकों ने इन्द्रिय-रोगों के ख़िलाफ़ दुगने ज़ोर से प्रचार शुरू कर दिया।

गिरजाघरों में व्यभिचार के ख़िलाफ़ धुआँधार भाषण दिये जाने लगे। उद्देश्य था व्यभिचार का ख़ात्मा करना; किन्तु अज्ञान और मूर्खता ने इस आन्दोलन को असफल बना दिया 1938 तक पत्र-पत्रिकाओं और अख़बारों में सिफलिस और गिनोरिया का ज़िक्र करना तक असभ्यतापूर्ण माना जाता था।

पहले महायुद्ध के बाद यह आन्दोलन अपनी ही कमज़ोरी की बदौलत ठण्डा पड़ गया। व्यभिचार और इन्द्रिय-रोगों की अब हर देश में दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती होने लगी। अस्तु, इस बात का दृढ़ प्रयत्न शुरू हुआ कि इनके ख़िलाफ़ संघर्ष को विज्ञान पर आधारित किया जाये। डॉक्टरी अख़बारों और सामाजिक पत्र-पत्रिकाओं में इन रोगों से पीड़ितों की सैकड़ों रिपोर्टें निकलने लगीं। पर जड़वादी अधकचरे विज्ञान के कूड़ा-करकट के नीचे अनैतिकता की व्यापक समस्या तथा प्रेम, विवाह और परिवार सम्बन्धी सभी प्रश्न दब गये। व्यभिचार-विरोधी सभी कामों पर मनोविश्लेषण का रंग चढ़ गया। पाप को उचित ठहराने वाले नये सिद्धान्तों की रचना भी की जाने लगी। किसी-किसी सिद्धान्त को तो डॉक्टरी समर्थन भी प्राप्त हो गया। फिर भी, इस प्रश्न का कोई उत्तर न मिल सका कि महिलाएँ अनैतिक क्योंकर हो जाती हैं।

दूसरे देशों में व्यभिचार के बारे में भोंड़ी से भोंड़ी बातें बड़ी गम्भीरता से कही गयी हैं। नीचे हम चन्द मिसालें पेश करते हैं। इन्हें आपने सुना भी होगा।

1. वेश्याएँ बड़े नीच चरित्र वाली औरतें होती हैं, इसलिए हम तब तक कोई कामयाबी हासिल नहीं कर सकते जब तक वैज्ञानिक ढंग से हम स्वस्थ पुरुष और स्वस्थ नारी को जन्म नहीं देते; या जब तक धार्मिक पुनरुत्थान मानव-जाति का उद्धार नहीं करता।

2. पुरुष का स्वभाव ही होता है कि इन्द्रिय-तृप्ति के लिए वह एक से अधिक स्त्रियों की माँग करे। इसलिए व्यभिचार का अन्त कर सकना असम्भव है।

3. व्यभिचार को फैलाने की ज़िम्मेदारी पुरुषों पर ही है इसलिए व्यभिचार का अन्त तभी हो सकता है, जब पुरुष कसम खा लें कि कभी व्यभिचार का समर्थन नहीं करेंगे।

4. बहुत-सी बदचलन औरतें पहले बड़ी सच्चरित्र लड़कियाँ थीं। बुरे सामाजिक प्रभावों ने उन्हें बिगाड़ दिया। अस्तु, व्यभिचार की दवा हमारे घरों और मन्दिरों में मौजूद है।

5. व्यभिचार अनन्तकाल तक क़ायम रहेगा क्योंकि ऐसी औरतें अनन्तकाल तक क़ायम रहेंगी, जो ज़िन्दगी की मौज की लहरों में हमेशा तैरती रहना चाहती हैं।

6. क़रीब-क़रीब सभी व्यभिचारी औरतें मिलों-फ़ैक्टरियों में काम करने वाली होती हैं। इसलिए व्यभिचार के ख़ात्मे का एकमात्र उपाय यही है कि मिलों-फ़ैक्टरियों में औरतों की भर्ती बन्द कर दी जाये।

7. व्यभिचार की ओर प्राय: वे लड़कियाँ झुकती हैं जो अविवाहित माताएँ बनने का अपमान झेल चुकी होती हैं।

8. अनैतिक महिला की चेतना में अवश्य ही एक-न-एक प्रकार का विकार होता है। इसलिए कुछ व्यभिचारी औरतों को तो ज़रूर ही मनोविश्लेषण की सहायता से सुधारा जा सकता है।

इन अन्तरविरोधी, आधी-झूठी आधी-सच्ची बातों के पँवाड़े से हम क्या लाभ उठा सकते हैं? कुछ नहीं। कोई ताज्जुब नहीं कि अनैतिकता के ख़िलाफ़ क़ानून बनाने वाली संस्थाएँ अपना सिर टकराकर हार गयीं। कोई भी क़ानून लागू नहीं किया जा सका, क्योंकि हर क़ानून का डटकर विरोध किया गया।

कुछ ही साल पहले पौल द क्रीफ़ नामक सज्जन ने पुरुषों की एक पत्रिका में लेख लिखकर व्यभिचार की ओर नया नज़रिया पेश किया था। इस लेख में एक ऐसे रसायन की मौजूदगी की बात कही गयी थी, जिसके इस्तेमाल से औरतें गर्भ व इन्द्रिय-रोगों, दोनों का ही, निरोध कर सकें; अर्थात यह दवा औरतों के लिए मातृत्व के सुख-भोग को तो सम्भव बना देगी पर मातृत्व के दुखद फलों का भय न रहेगा। न तो बच्चा पैदा होगा और न किसी इन्द्रिय-रोग के होने का डर रहेगा।

यह दवा कुछ और नहीं श्री क्रीफ़ महोदय की कल्पना की उपज थी। किन्तु ऊपर पेश की गयी बातें असम्भव नहीं हैं। ऐसी दवा के लिए काफ़ी डॉक्टरी खोजबीन जारी है, जो गर्भ-निरोधक भी हो और जिससे इन्द्रिय-रोगों के विनाश में भी मदद मिले (यद्यपि अभी तक ऐसी कोई दवा मौजूद नहीं)। अनेक वैज्ञानिक मानते हैं कि ऐसी दवा की खोज अनैतिकता की समस्या को हल कर देगी।

क्या हम इससे सहमत हो सकते हैं?

उत्तर देने के लिए गम्भीर चिन्तन की ज़रूरत नहीं। इन्द्रिय-रोगों का भय और गर्भवती कर दिये जाने का भय ऐसी दो चीज़ें हैं जो स्वाभाविक रूप से व्यभिचार की रोकथाम किये हुए हैं। इन्हीं दोनों भयों के कारण अधिकांश लड़कियाँ और पुरुष व्यभिचार से बचने का यत्न करते हैं। इन भयों का ख़ात्मा अनैतिकता को अत्यधिक बढ़ा देगा। आज पाप उसी मात्रा में बढ़ रहा है जिस मात्रा में इन्द्रिय-रोगों से बचने और सन्तति-निग्रह के तरीक़ों का ज्ञान आम लोगों में फैल रहा है। यह सम्भावना सोवियत रूस को छोड़, क़रीब-क़रीब सभी जगह मौजूद

है। सोवियत रूस में विज्ञान का उद्देश्य बीमारों और अवैध पैदाइश के बच्चों के आँकड़े इकट्ठा करना-भर नहीं था। उसका उद्देश्य कहीं ज़्यादा नैतिकतापूर्ण था। उसका उद्देश्य था : मानव जाति को सुधारना।

औरतों के क्रय–विक्रय के ख़िलाफ़ संघर्ष

औरतें व्यभिचार को अपनी जीविका का आधार क्यों बनाती हैं?

सोवियत प्रश्न-पत्र में दिये गये उत्तर एक से थे। थोड़े या बहुत समय के लिए अपनी जीविका का आधार औरतें व्यभिचार को दरिद्रता और आर्थिक कठिनाइयों के कारण बनाती हैं। पर, यह उत्तर केवल आधा था।

निस्सन्देह, रूस की अधिकांश महिलाओं ने ग़रीबी की समस्या का हल अनैतिकता को नहीं माना। क्यों? क्या वे उन औरतों से "ज़्यादा अच्छी हालत" में थीं जिन्होंने व्यभिचार को हल माना था?

क़तई नहीं। रूसी महिलाओं ने इसका उत्तर बड़े ज़ोरदार शब्दों में दिया। व्यभिचार के व्यापार की केवल वे महिलाएँ शिकार बनीं जिन्हें दूसरे लोगों ने जानबूझकर फुसलाया था। किन लोगों ने? उन लोगों ने नहीं जिन्होंने पहले-पहल उनके शरीर का सौदा किया था, बल्कि उन मर्द-औरतों ने जो वेश्यावृत्ति के व्यापार से लम्बे-चौड़े मुनाफ़े कमा रहे थे; वे लोग जो व्यभिचार के ठेके चलाते थे।

कुछ ऐसे पाठक भी हो सकते हैं जो कहेंगे कि इन दोनों बातों का ताल्लुक़ तो सिर्फ़ रूसी औरतों से है। मैं उनसे प्रार्थना करूँगा कि वे फ़्लैक्सनर और कूपर दोनों की ही किताबें पढ़ें। रूस में सन 1923 में ये दोनों ही बातें जैसी लागू होती थीं, उसी तरह आज बाक़ी सारी दुनिया में वे क़रीब-क़रीब ज्यों-की-त्यों लागू होती हैं। व्यभिचार इसलिए क़ायम है क्योंकि बेशुमार भूखी-नंगी लड़कियाँ मौजूद हैं, इसलिए कि व्यभिचार का व्यापार करने से क़रारा मुनाफ़ा हाथ लगता है।

औरतों का इस मुनाफ़े में ज़्यादा हिस्सा नहीं होता। पुरुष समुदाय जैसा सोचता है उसके विपरीत, ऐसी औरतों की सालाना आमदनी बहुत कम होती है। उनके

जीवन की परिस्थितियाँ बड़ी शर्मनाक होती हैं। रूसी महिलाओं में गिनी-चुनी ही ऐसी थीं जिन्होंने व्यभिचार को अपना धन्धा बनाने की गरज से यह काम चुना था। हज़ारों ने बताया कि यह जान सकने से पहले ही कि वे अनैतिक बन रही हैं, वे अनैतिक बन चुकी थीं। उन्हें कभी-कभी ही ज़बरदस्ती इस काम में घसीटा गया था। या तो वे एकदम कंगाल थीं, या बहुत कड़ी मेहनत के लिए उन्हें बहुत कम पैसा मिलता था। या फिर वे ख़ाली बैठी मक्खियाँ मारा करती थीं। अब कोई ठेकेदार सामने आता। वह (पुरुष या स्त्री) ऐसी लड़की के लिए वक़्त और रक़म तदबीज़ (नियत) कर जाता। यह रक़म आमतौर से बहुत ज़्यादा न होती थी। सोवियत विशेषज्ञों को पता चला कि ज़्यादातर लड़कियाँ बहुधा इतनी ग़रीब होतीं कि थोड़ी रक़म का लालच भी उन्हें पाप की ओर तेज़ी से घसीट ले जाता। अमेरिका की हालत के बारे में कूपर का अध्ययन भी यही बताता है। उनका कहना है, युद्ध से पूर्व के दिनों में ज़्यादातर लड़कियाँ बहुत थोड़ी रक़म पर हफ़्ते-भर के लिए तैयार हो जाती थीं।

इन सबसे यही सिद्ध होता है कि व्यभिचार की जड़ कंगाली है।

जिन दिनों प्रश्न-पत्र घुमाया जा रहा था, उन दिनों सोवियत सरकार ने उद्योगों और खेती-बारी का पुनर्संगठन शुरू किया ही था। उन दिनों औरतों को काम भी कम मिलते थे और मज़दूरी भी कम मिलती थी। प्रश्न-पत्रों में औरतों को न तो सब्ज़बाग दिखाये गये थे और न उन्हें बेहतर काम देने का वायदा किया गया था। फिर भी ज़्यादातर महिलाओं ने कहा कि यदि अच्छे काम मिलने की उन्हें ज़रा-सी भी उम्मीद हुई तो अपना नैतिक सुधार कर सकने की उन्हें आशा बँध जायेगी। अपने पतन के आर्थिक कारणों से वे भली-भाँति परिचित थीं। बहुतों ने कहा कि हम अपने बच्चे की परवरिश कर रही हैं। उन्होंने कहा कि हम यही चाहती हैं कि बच्चे के बड़े होने से पहले ही हम इस पेशे को छोड़ दें, ताकि उसे यह सुनकर शर्मिंदा न होना पड़े कि तू फलाँ बदचलन औरत का बेटा है।

इस प्रश्न-पत्र ने एक और तथ्य पेश किया जिसे सभी मनावैज्ञानिक, सामाजिक कार्यकर्ता और कुलीन लोग जानते हैं। हाँ, भले घरानों की औरतें इसे नहीं मानतीं। बहुत थोड़ी ही लड़कियाँ ऐसी होती हैं जो अपनी ज़रूरत से ज़्यादा तीव्र कामेच्छा को बुझाने के लिए व्यभिचार का सहारा लेती हैं। रूसी महिलाओं ने स्वीकार किया कि इस तरह के जीवन से इन्द्रिय-भोग के प्रति घृणा ही पैदा होती है। इसमें मानसिक सन्तोष नहीं मिलता।

इस तथा दूसरे तथ्यों के आधार पर सोवियत वैज्ञानिक इस नतीजे पर पहुँचे कि अधिकांश वेश्याएँ सामान्य स्वभाव की होती हैं। उनकी मानसिक अस्थिरता दूसरी साधारण स्त्रियों के मुक़ाबले ख़ास ज़्यादा नहीं होती। अगर सच्चरित्रता को

छोड़ वे व्यभिचार की ओर झुकती हैं तो इसका कारण उनका स्वभाव नहीं, आर्थिक कठिनाइयाँ हैं। हमारे देशों में आमतौर से लोग यह सोचते हैं कि बदचलन औरतों को फिर से समाज के लायक बनाने का एकमात्र उपाय यही है कि उन्हें किसी ऐसी जगह पर रखा जाये जहाँ उनकी पूरी मानसिक देखभाल की जा सके। यह बात अवैज्ञानिक और बनावटी है। इसके फलस्वरूप एक-से-एक हास्यास्पद योजनाएँ बनना शुरू हो जाती हैं। औरतों के "सुधार-आश्रम" क़ायम होते हैं; उन्हें 'सही ढर्रे पर लाने के लिए' एक-से-एक ढकोसले तैयार किये जाते हैं। आँखें बन्द कर ली जाती हैं तो सिर्फ़ कंगाली की तरफ़ से। रूस की औरतों ने इस बात पर ख़ास ज़ोर दिया। उन्होंने कहा : "हमें अच्छा काम दो, हम अपने को सुधार लेंगे।"

व्यभिचार-व्यापार के बारे में उनके उत्तर ख़ास दिलचस्प थे। उन्होंने इस धारणा को ख़त्म कर दिया कि व्यभिचार के अड्डे चलाने वाले लोग बड़े चतुर और धनी होते हैं और उनके दल के दल होते हैं। उन्होंने रहस्य में छिपे ठेकेदार को अपने असली रूप में खड़ा कर दिया। व्यभिचार से मुनाफ़े कमाने वाले लोग "साधारण आदमी" ही होते हैं। रूस की उन दिनों की हालत को अपनी आज की हालत पर लागू करते हुए हम कह सकते हैं कि व्यभिचार से मुनाफ़े कमाने वाले ज़्यादातर लोग हैं - मोटर-ड्राइवर, होटलों में काम करने वाले, गुण्डागर्दी मचाने वाले, नशेबाज़ वग़ैरह। आमोद-प्रमोद के स्थान भी इन लोगों के अड्डे होते हैं। इनमें सबसे बढ़े-चढ़े होते हैं सस्ते होटलों, धर्मशालाओं और यात्रियों के ठहरने के स्थानों के मालिक।

इन तथ्यों और निष्कर्षों पर पहुँचकर सोवियत-शासकों ने अपने देश से भ्रष्टाचार को हटाने के लिए जो संघर्ष शुरू किया वह अन्य देशों में चलाये गये आन्दोलनों से एकदम भिन्न था और एक नये दृष्टिकोण पर आधारित था।

हम उसे संक्षेप में बताते हैं :

यह तय कर लेने पर कि व्यभिचार के ख़िलाफ़ संघर्ष चलाया जाये, सोवियत अधिकारियों ने यह भी तय किया कि इस संघर्ष को वेश्या-विरोधी आन्दोलन का रूप नहीं दिया जाये। संगठित-व्यभिचार को सोवियत रूस में एक सामाजिक दोष माना गया। वहाँ माना गया कि इसका कारण औरतों को ग़रीबी और इसके व्यापार से आने वाली रक़म है।

इस नीति का आधार क्या था यह गोर्की के निम्नलिखित वाक्यों से स्पष्ट है : "शायद दुनिया में जब कोई भी गुलाम न रह जायेगा, कोई भी ग़रीब न रह जायेगा, तो इन्सान आदर्श रूप से अच्छा बन जायेगा। पर यदि हम चाहते हैं कि दुनिया में कोई भी ग़रीब और कोई भी गुलाम न रह जाये, तो हमें उन लोगों के ख़िलाफ़ निर्दयता से लड़ना पड़ेगा जो गुलामों के श्रम पर मौज उड़ाने के आदी हैं।"

सन 1925 में सोवियत सरकार ने अपने सिद्धान्तों को अमली रूप दिया। उसने "वेश्यावृत्ति के ख़िलाफ़ संघर्ष का कार्यक्रम" नामक क़ानून पास किया। इस क़ानून की भूमिका में कड़ी चेतावनी दी गयी थी। इसमें बताया गया था कि व्यभिचार और इन्द्रिय-रोग बड़ी तेज़ी से बढ़ रहे हैं। देश की तमाम शासन संस्थाओं, ट्रेड यूनियनों, सरकारी संस्थाओं तथा जन-संगठनों को आदेश दिया गया कि वे तुरन्त ही निम्नलिखित उपायों को अमल में लायें :

1. मज़दूर संगठनों की मदद से मज़दूरों की सशस्त्र सुरक्षा सेना मज़दूर स्त्रियों की छँटनी हर हालत में बन्द करे। किसी भी हालत में आत्म-निर्भर अविवाहित औरतों, गर्भवती औरतों, छोटे बच्चों वाली औरतों और घर से दूर रहने वाली लड़कियों को काम से जुदा न किया जाये।

2. उस समय फैली हुई बेरोज़गारी के आंशिक हल के रूप में स्थानीय शासन संस्थाओं को आदेश दिया गया कि वे सहकारी फ़ैक्टरियों और खेतों का संगठन करें ताकि निस्सहाय भूखी-नंगी औरतों को काम पर लगाया जा सके।

3. औरतों को स्कूलों और प्रशिक्षण-केन्द्रों में भरती होने के लिए बढ़ावा दिया जाये और मज़दूर संगठन इस भावना के ख़िलाफ़ कारगर संघर्ष चलायें कि औरतों को मिलों-फ़ैक्टरियों वग़ैरह में काम नहीं करना चाहिए।

4. उन औरतों को, जिनके रहने का "कोई निश्चित स्थान नहीं है", और उन लड़कियों को जो देहातों से शहरों में आयी हैं, बसाने के लिए आवास-अधिकारी सहकारी मकानों की व्यवस्था करें।

5. बेघरबार बच्चों और युवा लड़कियों की सुरक्षा के नियम सख़्ती से लागू किये जायें।

6. इन्द्रिय-रोगों और वेश्यावृत्ति के ख़तरे के ख़िलाफ़ आम जनता को जगाने के लिए अज्ञान पर हमला बोला जाये। आम जनता में यह भावना जगायी जाये कि अपने नये जनतन्त्र से हम इन ख़राबियों को निकाल फेंकें।

ये सब प्रारम्भिक आदेश थे। इनका उद्देश्य देश की ग़रीब औरतों और लड़कियों की हालत को अच्छा बनाना था। किन्तु सोवियत अधिकारी भली-भाँति जानते थे कि व्यभिचार की काई समाज के हर स्तर में चिपकी हुई है। केवल आर्थिक बोझ को हल्का करके ही इस काई को इस पीढ़ी के लोगों से दूर नहीं किया जा सकता - शायद अगली पीढ़ी के लोगों से भी नहीं। फलतः व्यभिचार पर सीधा हमला बोला गया।

अस्तु, केन्द्रीय अधिकारियों ने तीन और राज्य-घोषणाएँ जारी कीं :

पहली : ज़ारशाही क़ानून के अन्तर्गत अनैतिक महिलाओं के ख़िलाफ़ कार्यवाही करने के अदालतों और पुलिस के हाथों में जो अधिकार थे, वे रद्द कर दिये गये।

दूसरी : व्यभिचार से छिपा या खुला मुनाफ़ा कमाने वालों को ख़त्म करने के लिए निर्दयतापूर्ण संघर्ष छेड़ दिया गया। इस सम्बन्ध में स्थानीय जन-सरकारों को आदेश दिया गया कि वे उतनी ही सख़्ती का रुख़ अपनायें जितना व्यभिचार के ठेकेदारों का है।

तीसरी : इन्द्रिय-रोगों से पीड़ित तमाम लोगों को डॉक्टरी और दवादारू सम्बन्धी मदद मुफ़्त दी जाये।

स्वास्थ्य रक्षा सम्बन्धी संस्थाओं की निगरानी में इन नियमों को कार्यान्वित करने के लिए अधिकारियों के दल नियुक्त किये गये। पर शुरू के महीनों से ही अड़चनें सामने आने लगीं। आर्थिक बन्दोबस्त के लाभ तो दिखायी देने लगे, पर संगठित व्यभिचार के ख़िलाफ़ असली संघर्ष का कोई नतीजा न निकला। ज़ारशाही पुलिस के हथकण्डों को मज़दूरों की नागरिक सेना (मिलिशिया) के कुछ हिस्से भी ज्यों के त्यों अपना रहे थे, क्योंकि अनैतिकता की तरफ़ नये रवैये को ये लोग पूरी तरह समझ नहीं पाये थे। इसीलिए फ़रवरी 1923 में क़ानून सम्बन्धी जन-समिति ने अपराध-क़ानूनों में कई संशोधन किये। नीचे की दो धाराएँ देखिए :

"धारा 170 : जो कोई भी व्यक्तिगत लाभ या दूसरे कारणों से, शारीरिक या नैतिक दबाव से, वेश्यावृति की बढ़ती में मदद करेगा उसे पहले अपराध के लिए कम-से-कम तीन साल क़ैद की सज़ा मिलेगी।"

"धारा 171 : वे लोग जो वेश्यावृत्ति से मुनाफ़ा कमाते हैं उन्हें पहले अपराध के लिए कम-से-कम तीन साल की क़ैद की सज़ा मिलेगी और उनकी सारी निजी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जायेगी। यदि अपराधी की देखरेख या नौकरी में कोई वेश्या पायी जायेगी ओर उसकी आयु 21 साल से कम होगी तो अपराधी को कम-से-कम पाँच साल की क़ैद की सज़ा मिलेगी।"

पहले इन क़ानूनों को लागू करने की ज़िम्मेदारी स्वास्थ्य विभाग पर थी। जनवरी 1924 में यह ज़िम्मेदारी घरेलू मामलों की जन-कमिसारियत को सौंप दी गयी।

एक और घोषणा प्रकाशित हुई और वह भी क़ानून बन गयी। इसका नाम था : "वेश्यावृत्ति के ख़िलाफ़ संघर्ष में नागरिक सेना (मिलिशिया) के कामों की घोषणा"। यह क़ानून इतिहास में सदा याद रखा जायेगा। यह पहला क़ानून था जो संगठित व्यभिचार की सामाजिक बुनियादों को ख़त्म करने में कामयाब हुआ।

दूसरे देशों के लिए यह आदर्श क़ानून है। इसे दो हिस्सों में बाँटा जा सकता है।

1. सेना के कामों को साफ़-साफ़ गिनाया गया। इसका काम था व्यभिचार के अड्डों का पता लगाना। ये अड्डे ही व्यभिचार से पैदा होने वाले मुनाफ़ों को क़ायम किये हुए थे। ताक़ीद कर दी गयी कि जो भी ऐसे अड्डों को चलायेगा, किराये पर उठायेगा, 'या मालिक होगा' या जो इनके लिए ग्राहक या औरतें लायेगा उसे गिरफ़्तार कर लिया जायेगा और अपराध क़ानून की धाराओं के मुताबिक़ उसे दण्ड दिया जायेगा। यह ताक़ीद की गयी कि ऐसे मकान मालिकों, मकान मालकिनों, ग्राहक लाने वालों वग़ैरह को इन्सानों का व्यापार करने वाला माना जायेगा। उनके साथ सख़्ती का सलूक किया जायेगा। सेना को आदेश दिया गया कि वह आमोद-प्रमोद के स्थानों और जलपान-गृहों की ख़ास निगरानी रखे – ख़ासतौर से जब जाने-माने अड्डों पर छापा मारा जा चुका हो। हर हालत में ऐसी जगहों के मालिकों का पता लगाया जाये, उनका अपराध बताया जाये और उन्हें सज़ा दी जाये। भले ही वे लाख कहें कि हमें नहीं मालूम था कि हमारी जगहों पर ऐसा काम जारी है। ऐसे सभी स्थानों को जिनके व्यभिचार के अड्डे होने की आशंका है तब तक के लिए बन्द कर दिया जाये जब तक इन अड्डों के मालिकों और व्यभिचार चलाने वालों से पूरी तरह निपट न लिया जाये। (हमारे देशों में ऐसे सख़्त, लेकिन ज़रूरी, क़ानूनों को लागू करने की बात तो कभी सोची भी नहीं गयी। वेश्यागृह एक ऐसी जगह होती है जहाँ खरी रक़म हाथ आया करती है। पुलिस ने लाख छापे मारे हों पर मकान-मालिक अज्ञात ही रहता है। ऐसे मामलों की लपेट में उसका नाम तक नहीं आने पाता)।

2. सेना और जनता को चेतावनी दी गयी कि उनके द्वारा अनैतिक महिलाओं के ख़िलाफ़ कोई सख़्ती का बर्ताव न किया जाये। आश्चर्य में डालने वाली एक ऐसी भी धारा थी जिसमें कहा गया कि वेश्याओं को गिरफ़्तार न किया जाये। उन्हें अदालतों में लाया जा सकता था तो ठेकेदारों के ख़िलाफ़ सिर्फ़ गवाही देने के लिए। (एक असाधारण क़ानून द्वारा बहुत छोटी उम्र की लड़कियों को 'मज़दूरों और किसानों की निगरानी के संगठन' नामक जाँच-पड़ताल की संस्था के सामने लाने की इजाज़त दी गयी थी।) व्यभिचार के अड्डों पर छापा मारकर कैसा बर्ताव किया जाये, इसे भी क़ानून में साफ़-साफ़ बताया गया था। छापा मारने वालों को आदेश दिया गया था कि वहाँ की औरतों को वे सामाजिक रूप से समान ही समझें। उन्हें वे धूर्त ठेकेदारों के शिकंजे में फँसी बेबस महिलाएँ समझें। भले ही कोई औरत सेना की तरफ़ कड़ा रुख़ क्यों न अपनाये, उससे सम्मानपूर्ण भाषा में ही बातचीत की जाये और उसका कोई अपमान न किया जाये। अफ़सरों को किसी अनैतिक महिला का नाम और पता लेने का अधिकार

नहीं दिया गया था। ज़ाहिर है हमारे देशों के किसी भी पुलिस अफ़सर को ये नियम बड़े ही अजीब और बेतुके लगेंगे। यहाँ तो वेश्याओं को इन्सान से नीचे दर्जे की चीज़ समझना आम बात है। लेकिन नये क़ानूनों का असर वहाँ तुरन्त देखने में आया। पहले सेना, फिर इस संघर्ष से सम्बन्धित ट्रेड यूनियनों जैसे संगठन और फिर धीरे-धीरे आम जनता समझने लगी कि ज़िन्दगी की परिस्थितियों के दबाव और मुनाफ़ा कमाने वाले ठेकेदारों के वशीभूत होकर ही औरतें व्यभिचार को अपनी जीविका का साधन बनाने पर मजबूर होती हैं।

नतीजे क्या निकले?

ठेकेदारों और वेश्यागृहों के मालिकों का अदालतों में ताँता लगने लगा। वहाँ से वे जेलों में पहुँचाये जाने लगे। जैसी की उम्मीद थी ही, इन लोगों ने विरोधी-आन्दोलन छेड़ दिया। सोवियत अख़बार 'सम्पादक के नाम पत्रों' से भरने लगे। आमतौर से इन पत्रों में नैतिकता सम्बन्धी लम्बी-चौड़ी बातें बघारी जातीं। इनमें कहा जाता कि सोवियत सरकार वेश्याओं को पनाह देकर और भोले-भाले मकान-मालिकों को दण्ड देकर घोर पाप कर रही है। पर्दे के पीछे छिपे लोगों को ज्यों-ज्यों सेना पकड़-पकड़कर सामने लाने लगी त्यों-त्यों उनकी चीख़-पुकार और भी बढ़ने लगी। उनके विरोध का वही रूप था जिससे दूसरे देशों के पुलिस अफ़सर भली-भाँति परिचित हैं : अर्थात 'धार्मिक' ओर 'क़ानूनी' लफ़्फ़ाज़ी की आतिशबाजी दाग़कर व्यभिचार-विरोधी आन्दोलन को कमज़ोर करना। किन्तु सोवियत अधिकारियों ने इस चीख़-पुकार का उत्तर सेना की और भी कड़ी कार्रवाई से दिया।

अब तक बचे ठेकेदारों ने शोर मचाना शुरू कर दिया कि सोवियत सरकार होटलों के मालिकों तथा दूसरे सम्पत्तिशाली लोगों को दण्ड देकर घोर अन्याय कर रही है। इसका उत्तर घरेलू मामलों के कमिसार ने कड़े शब्दों में दिया। उन्होंने कहा कि संगठित-व्यभिचार जैसे भयानक अपराध को बढ़ावा देने वाले किसी भी व्यक्ति को समाज क्षमा नहीं कर सकता। ठेकेदारों की एक दलील यह भी थी कि वेश्याओं को अपना पेशा जारी रखने का "हक़" है। अधिकारियों ने प्रश्न-पत्र का ज़िक्र करते हुए इस दलील का उत्तर दिया। उन्होंने कहा, औरतों ने व्यभिचार को मजबूरी की हालत में अपनाया है और समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह उन्हें अच्छे काम देकर व्यभिचार से मुक्त करे।

सन 1926 के ख़त्म होते-होते एक और समस्या आयी। मास्को से प्रकाशित होने वाले अख़बार 'इजवेस्तिया' के सम्पादकीय ने इस समस्या को जनता के सामने पेश किया। समस्या थी ग्राहकों की। नैतिक सुधार की योजनाओं में सोवियत रूस ने एक नया क़दम उठाया। वेश्यावृत्ति के ख़िलाफ़ संघर्ष अब तक

उन क़ानूनों के बल पर ही चलाया गया था जिनका हम ऊपर ज़िक्र कर आये हैं। अब एकदम नैतिक मसला पेश हुआ। उन वेश्याओं के 'ग्राहकों' पर हमला शुरू हुआ।

'इजवेस्तिया' में व्यभिचार से मुनाफ़ा कमाने वालों के सफलतापूर्वक दमन की ख़बरें छप चुकी थीं। सम्पादकीय में कहा गया कि वेश्यावृत्ति का ख़ात्मा और भी सहज बनाया जा सकता है, यदि सब औरतों के लिए अच्छे काम की व्यवस्था हो जाये। पर इस काम में पूरी तरह यह ज़रूरी है कि पुरुष समुदाय भी नया नैतिक दृष्टिकोण अपनाये। सम्पादकीय के शब्द ये थे : "अगर किसी व्यक्ति के लिए औरतों के ठेके चलाना अपराध है तो औरतों के शरीर को कुछ समय के लिए ख़रीदना और उनके आत्म-सम्मान को भंग करना भी उतना ही बड़ा अपराध है।"

व्यभिचार के इतिहास का हम पहले ही विवरण दे चुके हैं। उससे स्पष्ट हो गया है कि सामन्तवाद के पतन के बाद जब विवाह और प्रेम की ओर लोगों का नज़रिया बदला तब सामाजिक पैमाने पर यह समस्या सामने आयी। किन्तु, अब पहली बार लाखों-करोड़ों आदमियों के बीच यह समस्या खुल्लमखुल्ला रखी गयी।

सोवियत नागरिकों के सामने वे तथ्य पेश किये गये जिनसे वे आँखें नहीं चुरा सकते थे। रूस में ऐसी सामाजिक व्यवस्था क़ायम की गयी थी जिसमें स्त्रियों को पुरुषों के ही बराबर क़ानूनी, राजनीतिक और सामाजिक अधिकार हासिल थे। प्रेम और विवाह के द्वारा इन्द्रिय-सुख भोग सकने के रास्ते में जो भी रुकावटें थीं, तोड़ी जा रही थीं। अब कैसे किसी को आत्मा औरतों की सौदेबाजी की गवाही दे सकती थी? पुरुष कैसे औरतों की आबरू लूटने और अपने मुँह पर कालौंछ पुतवाने को तैयार हो सकते थे?

समस्या का पहले ही अन्दाज़ा लगाया जा चुका था। 'इजवेस्तिया' के सम्पादकीय में जो बात कही जा चुकी थी, उसी को प्रोफ़ेसर एलिस्त्रातोव ने 'इन्द्रिय-रोगों के ख़िलाफ़ संघर्ष की दूसरी कांग्रेस' में और भी ज़ोरदार शब्दों में उठाया। उन्होंने कहा कि औरतों के आर्थिक-शोषकों के ख़िलाफ़ संघर्ष में सेना की अभूतपूर्व सफलता ने इस बात की आवश्यकता पैदा कर दी है कि जो लोग अब भी व्यभिचार को प्रोत्साहन देते हैं, उन पर सामाजिक दबाव डाल जाये।

उन्होंने कहा : "हम इसे सिर्फ़ नैतिक दायरे की चीज़ नहीं समझते। हम इसे अत्यन्त महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न मानते हैं। सोवियत संघ ऐसा राज्य है जिसकी आधार-शिला मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अन्त है। कोई भी मनुष्य जो औरतों के इस घृणित शोषण को क़ायम रखता है हमारे देश का नागरिक कहलाने का

हक़दार नहीं है।"

बेशक, प्रोफ़ेसर एलिस्त्रातोव की बात हमें "उपदेश-वाक्य" जैसी लगती है। पर यहाँ भी सोवियत अधिकारियों ने अपनी पुरानी रीति पर अमल किया : एक सैद्धान्तिक विचार को उन्होंने वैज्ञानिक कार्यक्रम का रूप दे दिया। घरेलू मामलों के अधिकारियों ने इस मसले को एक प्रश्न के ही रूप में नहीं रहने दिया; उन्होंने इसे सेना के सुपुर्द कर दिया।

एक आश्चर्यजनक क़ानून पास हुआ। अब से जब भी अफ़सर लोग किसी व्यभिचार के अड्डे पर छापा मारते, वे वहाँ उपस्थित सभी लोगों के नाम, पते और नौकरी करने के स्थान को दर्ज कर लेते - भले ही यह अड्डा मकान, मदिरालय या सिर्फ़ अन्धेरी गली का कोई कोना हो। "ग्राहकों" को गिरफ़्तार न किया जाता। हाँ, दूसरे दिन बाज़ार में एक नियत स्थान पर एक लम्बे तख़्ते पर इन लोगों के नाम और पते टाँग दिये जाते। यह तख़्ता कई दिनों तक वहीं टँगा रहता था। इन लोगों के नामों और पतों के ऊपर तख़्ते पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा रहता था : "औरतों के शरीर को ख़रीदने वाले"। नामों की फ़ेहरिस्त सभी बड़ी-बड़ी बिल्डिंगों और मिलों-फ़ैक्टरियों के बाहर लटकी रहती थी।

इस नियम का क्या असर हुआ होगा, इसकी आसानी से कल्पना की जा सकती है। हमारे देशों में एक दूसरा ही अप्रकट नियम-सा मौजूद है। पुलिस को ऐसे लोगों से बड़ी इज़्ज़त से पेश आना पड़ता है और उनके नामों को गुप्त रखना पड़ता है जो "बड़े आदमी" होते हुए व्यभिचार के संचालक भी होते हैं। पुलिस को ध्यान रखना पड़ता है कि इन लोगों की इज़्ज़त-आबरू में बट्टा न लगने पाये। सोवियत रूस के नियम ने इस ढकोसले को तोड़कर आत्म-सम्मान पर दाग़ लगने के भय को ही व्यभिचार के ख़िलाफ़ शक्तिशाली हथियार बना लिया। उसने इस "निजी आत्म-सम्मान" को जनता के सामने जाँच-पड़ताल के लिए पेश कर दिया। पाप का दण्ड देने या पापमय जीवन के ख़िलाफ़ लम्बे-लम्बे भाषण देने की बजाय, सोवियत अधिकारियों ने पुरुष द्वारा लुके-छिपे व्यभिचार की गुंजाइश को ही ख़त्म कर दिया।

पहले कभी इतने साहस का क़दम नहीं उठाया गया था। जिन मनोवैज्ञानिकों ने 'ढकोसले को ख़त्म करने' का यह उपाय सोचा था, सही मौक़े की प्रतीक्षा भी की थी। उन्होंने इस उपाय को तभी लागू किया जब अन्य क़ानूनों द्वारा संगठित व्यभिचार के आर्थिक और दूसरे रूपों को ख़त्म कर दिया गया था।

ध्यान देने की एक और ख़ास बात यह है कि किसी पर कोई नैतिक-प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था। भोग लालसा की तृप्ति के लिए पुरुषों को औरतों का शरीर ख़रीदने से न तो मना किया गया, न दण्ड की योजना बनायी गयी थी। उनसे

सिर्फ़ इतना कहा गया था कि नया सोवियत राज्य ऐसी चीज़ को अनैतिक मानता है क्योंकि मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का अत्यन्त ही घृणित रूप है। समाज में भले भोग भी थे। वे अभागी औरतों की ग़रीबी से फ़ायदा नहीं उठाना चाहते थे। उन्हें यह जानने का अधिकार था कि वे कौन से लोग हैं जो निजी स्वार्थ के लिए ऐसे शोषण को जारी रखने पर तुले हुए हैं।

उस समय मौजूद परिस्थितियों के सजग विश्लेषण के बिना इस नियम की बहुत कुछ ताक़त ख़त्म हो गयी होती। किन्तु जिस समय इसे लागू किया गया, सारे देश में जनता को शिक्षित बनाने का आन्दोलन जारी था। इस सम्बन्ध में सोवियत रूस की नाट्यशालाओं ने जो काम किया, वह भी उल्लेखनीय है। अनैतिकता के अपराधी पर मुक़दमे का एक नाटक तैयार किया गया। इसका कथानक कुछ इस प्रकार था। सेना व्यभिचार के एक अड्डे पर छापा मारती है। वहाँ से पकड़कर मकान-मालिक, वेश्या, और उसके ग्राहक को वह जनता की अदालत में लाती है। तमाम सबूतों के आधार पर मकान-मालिक को क़ैद में डाल दिया जाता है। औरत को बरी कर दिया जाता है। पर, ग्राहक पर अपनी और एक दूसरी स्त्री की मान-प्रतिष्ठा भंग करने और देश के नैतिक गौरव पर धब्बा लगाने का आरोप लगाया जाता है।

जैसा कि स्वाभाविक था, यह नाटक जनता में बहुत लोकप्रिय हुआ। जहाँ भी यह नाटक होता, हॉल खचाखच भरा रहता। बड़ी शान्ति से जनता पात्रों की बातचीत सुनती। नाटक की सरलता ने उसमें और भी जान डाल दी थी। यह एक समस्या-प्रधान नाटक था। इसमें व्यर्थ की उलझनें या टालमटोल की बातें नाममात्र को भी नहीं थीं। नंगा सत्य रंगमंच पर पेश कर दिया गया था।

पात्रों की बातों में सच्चाई के साथ-साथ क़ानून की बातें भी होती थीं। प्रत्येक पुरुष, स्त्री और नवयुवक जो इस नाटक को देखता, इस समस्या से सम्बन्धित तमाम नैतिक प्रश्नों से अच्छी तरह परिचित हो जाता। उसे मालूम हो जाता कि आगे क्या होने वाला है। उसे मालूम हो जाता कि जो भी पुरुष उस रात के बाद किसी वेश्या के साथ पाया जायेगा, उसका नाम सभी को मालूम हो जायेगा। उसे याद रहता कि उसके रिश्तेदार और उसके साथ काम करने वाले उसे हिक़ारत की नज़रों से देखेंगे, जब उसका नाम 'औरतों का शरीर ख़रीदने वालों' की फ़ेहरिस्त में टँगा मिलेगा।

ईसाई धर्म और डॉक्टर

इन्द्रिय-रोगों के ख़िलाफ़ संघर्ष की बाबत अभी तक हमने कुछ भी नहीं कहा। नयी सोवियत सरकार के सामने यह भी एक बड़ी समस्या थी।

उन दिनों रूस में सिफलिस का भयानक ज़ोर था। वोल्गा-तट पर बसे कुछ जन समूहों में तो इलाज न हो पाने से शारीरिक कुरूपता तक जा गयी थी। "बन्धनरहित प्रेम" के सुख का अनुभव करने की भावना ने सिफलिस और गिनोरिया के मरीजों की संख्या अत्यधिक बढ़ा दी थी।

परिस्थिति के अत्यन्त गम्भीर होते हुए भी सोवियत अधिकारियों ने मर्ज़ पर ही ध्यान केन्द्रित करना काफ़ी न समझा। दूसरे देशों में यह आन्दोलन असफल हुआ था तो इसलिए कि सारी ताक़त रोग ख़त्म करने पर लगायी गयी थी। दूसरी गम्भीर समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया था। सोवियत अधिकारी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इन्द्रिय-रोगों को तभी ख़त्म किया जा सकता है जब अनैतिकता और वेश्यावृत्ति को ख़त्म कर दिया जाये। अनैतिकता को उन्होंने तमाम समस्याओं की जड़ माना। उनका कहना था कि अनैतिकता की समस्या के हल हो जाने पर सिफलिस और गिनोरिया साधारण बीमारियाँ मात्र रह जायेंगी। उनमें सामाजिक समस्याओं की लाग-लपेट न रहेगी और इन्द्रिय-रोग विरोधी आन्दोलन भी क्षय रोग, शराबख़ोरी, इत्यादि के ख़िलाफ़ विशाल आन्दोलन का हिस्सा बन जायेगा।

सोवियत अधिकारियों ने पहला क़दम यह उठाया कि उन्होंने इस बकवास को ख़त्म कर दिया कि कौन सी औरतें इन्द्रिय-रोगों को फैलाने में ज़्यादा ख़तरनाक हैं। सच्चाई यह है कि कोई भी व्यक्ति - मर्द या औरत - जो किसी इन्द्रिय-रोग से पीड़ित है बड़ी आसानी से दूसरों में इस रोग को फैला सकता है। मौजूदा और आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए ये रोग कितने ख़तरनाक होंगे, यह जानते हुए सोवियत अधिकारियों ने अपने अपराध-क़ानूनों में एक नया क़ानून जोड़ा। इस क़ानून के मुताबिक़ यह गम्भीर अपराध माना गया कि कोई पुरुष, जो इन्द्रिय-रोग से पीड़ित हो और जानता हो कि यह रोग दूसरे को लग जायेगा, किसी स्त्री के साथ भोग-विलास करे। इस तरह यह बात मरीजों की ईमानदारी पर नहीं छोड़ी गयी कि वे इस रोग को दूसरों में न फैलायें। क़ानून ने सभी अपराधियों को मजबूर कर दिया कि वे राज्य के सामने जवाबदेही करें।

किन्तु सोवियत अधिकारी क़ानून पास करके ही चुप नहीं बैठ गये। उन्होंने सारे देश में इन रोगों की जाँच-पड़ताल और इलाज के केन्द्रों की व्यवस्था की।

याद रखना चाहिए कि आज से कितने ही साल पहले जब ये केन्द्र खुले थे, सिफलिस और गिनोरिया की ठीक-ठीक जाँच-पड़ताल बहुत मुश्किल थी। इलाज बहुत पिछड़ा हुआ था। साथ ही सोवियत रूस आर्थिक समस्याओं के जाल में उलझा हुआ था। इस कारण विदेशों से अच्छे उपकरण और दवादारू मँगा सकना सम्भव न था। फिर भी इन्द्रिय-रोगों से पीड़ितों की चिकित्सा में इन केन्द्रों को जो सफलता मिली उसे देखते हुए हमारे देशों की हालत आज बहुत शर्मनाक है।

कारण ढूँढ़ निकालना बहुत मुश्किल नहीं।

ये अस्पताल भी वेश्यावृत्ति और व्यभिचार के ख़िलाफ़ आन्दोलन के अभिन्न अंग बन गये थे।

इन अस्पतालों में भी वैसी ही व्यवस्था थी जैसी क्षय-रोग के अस्पतालों में होती है; कुछ मरीज अपने घरों में रहते हुए इलाज कराते थे, और कुछ को अस्पतालों में भर्ती कर लिया जाता था। आन्दोलन के प्रारम्भिक काल में बड़े-बड़े अस्पतालों ने अपना ध्यान वेश्याओं पर केन्द्रित किया। इन वेश्याओं पर अपराध-क़ानून आँखें बन्द करके लागू नहीं किया जाता था। इन्द्रिय-रोग से पीड़ित वेश्या को वेश्यावृत्ति जारी रखने के अपराध में अदालतें आँख बन्द कर सज़ा नहीं सुना देती थीं। ऐसी औरतों के बारे में सभी जानते थे कि वे सामाजिक कुरीतियों द्वारा बिगाड़ी गयी हैं। इसलिए अदालत में पेश किये जाने के बाद इन औरतों से नागरिकों की एक कमेटी भेंट करती। यह कमेटी उन्हें समझाती कि अपने रोग का इलाज कराने के लिए वे अस्पताल में भर्ती हो जायें।

यह सब शुरू हुआ ही था कि एक नयी समस्या उठ खड़ी हुई। हमारे यहाँ के डॉक्टर और वैज्ञानिक इस समस्या से अच्छी तरह परिचित हैं। आख़िर, ऐसी औरत का इलाज करने से फ़ायदा ही क्या जो फिर पेशा शुरू कर दे और फिर रोगी बन जाये?

इस समस्या का हल भी सोवियत-वैज्ञानिकों ने ढूँढ़ निकाला। जिन अस्पतालों में औरतों का इलाज होता था, उनमें नये परिवर्तन किये गये। नयी-नयी 'संस्थाएँ' खड़ी करने का ढकोसला नहीं किया गया। सोवियत-अधिकारियों ने इन

अस्पतालों को ही ट्रेनिंग स्कूल और काम-धन्धे का केन्द्र बना दिया।

इन अस्पतालों का पहला काम यह था : जो भी वहाँ जायें उनका पूरा-पूरा इलाज हो। भर्ती होने के लिए किसी को मजबूर नहीं किया जाता था। न तो दरवाज़ों पर पहरेदार बैठाये जाते थे, न रात में ताले जड़े जाते थे। ख़ास बात यह थी कि हर मरीज को समाज के लिए लाभदायक एक-न-एक धन्धा सिखाया जाता था। इलाज के दौरान, मरीज काम-धन्धा भी सीखते थे और पैसे भी कमाते थे। इसका असर उनके दिमाग़ पर क्या पड़ता था यह सोचना मुश्किल नहीं है। औरतों को न तो सज़ा दी जाती थी, न लम्बे-चौड़े व्याख्यान; न ही चेतना-विश्लेषण का ढोंग रचा जाता था। औरतें काम-धन्धा सीखती थीं और पैसे भी कमाती थीं। बहुत-सी मरीज वेश्याएँ नहीं थीं। वे ऐसी लड़कियाँ थीं जिन्हें ज़ारशाही ज़माने में अच्छा काम न सीख पाने की वजह से काम न मिल सका था।

इन मरीजों में काफ़ी तादाद ऐसों की थी जो रोग के कुछ कम हो जाने पर अपने-अपने घरों में जाकर सोती थीं। दिन के वक़्त अस्पताल में आकर वे दवादारू करातीं और काम सीखती थीं। अस्पताल में 'अच्छी' और 'बुरी' औरतों को अलग-अलग नहीं बाँटा गया था। प्रयत्न यह किया जाता था कि क्षय रोग के इलाज के लिए जो नागरिक अस्पताल में भर्ती होते थे उनसे औरतें अपने आपको नीचे दर्जे का न समझें।

इस तरह, ये अस्पताल संगठित व्यभिचार के विरुद्ध संघर्ष के केन्द्र बन गये। कुछ ही अर्से में अकेले मास्को के अस्पतालों से इतना ज़रूरत का माल तैयार होने लगा कि उसकी क़ीमत पचास लाख रुपये सालाना आँकी गयी। ये अस्पताल बड़े लोकप्रिय स्थान बन गये। महिला-कार्यकर्ताओं के दल वेश्याओं के मुहल्लों में जाते और वेश्याओं से इन अस्पतालों में भर्ती होने के लिए कहते। पर शुरू-शुरू में वेश्याओं को डर लगा रहता कि कहीं ये अस्पताल क़ैदखाने न बन जायें। जैसे ही यह डर दूर हुआ, वेश्याएँ बड़ी तादाद में अस्पतालों में भर्ती होने लगीं। इस सम्बन्ध में जितना भी प्रचार किया गया, वह प्रश्न-पत्र के उत्तरों पर आधारित होने के कारण सच्चाई से भरा हुआ था। इसीलिए इसका असर बहुत जल्दी होता था।

कुछ ही दिनों बाद, अधिकारियों ने हर मरीज को अस्पतालों में कम-से-कम दो साल और रहने की इजाज़त दे दी - भले ही वह मरीज पहले इलाज क्यों न करा चुकी हो। उद्योग-केन्द्रों में काम सीखने वालों पर आत्म-नियन्त्रण के सिद्धान्त को सख़्ती से लागू किया जाता था। उद्योग-केन्द्रों के नियम वहाँ काम करने वाली औरतों ने खुद बनाये थे। नियम भंग करने के अपराध का सबसे बड़ा

दण्ड था - उस औरत को अस्पताल से निकाल दिया जाना।

इन अस्पतालों का पहला उद्देश्य था रोगों से निपटना। क्या वे इसमें सफल हुए?

बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखकर भी जिस बात को बता सकना मुश्किल है वही एक छोटी-सी तुलना से स्पष्ट हो जायेगी। सोवियत अस्पतालों की तुलना कीजिए अमेरिका के अस्पतालों से। अमेरिका में इन्द्रिय-रोगों को ख़त्म करने के लिए बरसों से प्रयत्न जारी हैं। सोवियत रूस के अस्पतालों में केवल इन्द्रिय-रोगों को ही जीतने का नहीं, अनैतिकता की व्यापक समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया था।

अमेरिका के स्वास्थ्य अधिकारियों ने काफ़ी गर्व से बताया है कि 1935 से 1940 के पाँच वर्षों में इन्द्रिय-रोग-विरोधी दवाओं का इस्तेमाल वहाँ पहले से दुगना हो गया। किन्तु दो साल बाद जब इन्द्रिय-रोग-विरोधी आन्दोलन और तीव्र हुआ तथा इलाज के तरीक़ों में उन्नति हुई, तो सिफलिस और गिनोरिया के मरीजों की संख्या और भी बढ़ गयी।

सोवियत रूस में आन्दोलन 1926 में शुरू हुआ था। पाँच साल तक यह आन्दोलन जारी रहा। इस आन्दोलन की सफलता का सबसे अच्छा सबूत यह है कि 1931 में मरीजों की कमी के कारण अस्पतालों के दरवाज़े बन्द होने लगे। दो साल के बाद आधे से ज़्यादा इन्द्रिय-रोग-विरोधी विशेष केन्द्रों का पता-ठिकाना न रहा। 1938 तक लाल सेना और लाल जहाजी बेड़े से सिफलिस और गिनोरिया एकदम ख़त्म कर दिये गये। सोवियत नागरिकों के बीच इन रोगों को क़रीब-क़रीब बिल्कुल ख़त्म कर दिया गया। अब वे एक मामूली समस्या रह गये थे। इन्द्रिय-रोग-विरोधी अस्पताल सदा के लिए बन्द कर दिये गये। वेश्यावृत्ति का नामों-निशान तक मिट गया।

इन्द्रिय-रोग-विरोधी इस आन्दोलन की आश्चर्यजनक सफलता का विस्तृत वर्णन दूसरे लोगों ने भी किया है। 1945 में ब्रिटिश वैज्ञानिकों के सम्मेलन में सोवियत रूस का उल्लेख डॉ. जे.ए. स्कॉट ने अपने भाषण में किया था। (ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ वेनेरल डिजीजेज नामक पत्र के मार्च 1945 के अंक में यह भाषण छपा था)। उन्होंने बताया कि रूस में सोवियत सत्ता स्थापित होने से पहले केवल 13 मेडिकल स्कूल थे, जबकि आज लगभग 70 हैं। 1914 में, ज़ार साम्राज्य में सम्भवत: सिफलिस के मरीजों की संख्या दुनिया-भर में सबसे ज़्यादा थी। याकूत प्रदेश में तीस फ़ीसदी आबादी इन रोगों से पीड़ित थी। मास्को में रोगियों की संख्या दस हज़ार पर 338 थी। सिफलिस के जाने-माने रूपों के अलावा रूसी डॉक्टरों को उसके नये-नये रूप भी देखने को मिले। इसका कारण यह था कि

मूर्तियों को चूमने की प्रथा सर्वव्यापक थी; लोग एक-दूसरे के हुक्के भी पिया करते थे; लोग अपनी जूठी रोटी बच्चों को खिलाने में नहीं हिचकिचाते थे। 1920 के बाद रूसी अधिकारियों ने डॉक्टर ब्रौनर को इन गन्दी प्रथाओं के खि़लाफ़ शिक्षा आन्दोलन संगठित करने के लिए बुलाया।

वेश्याओं के इलाज की व्यवस्था के अलावा, समूची जनता के बीच से इन रोगों को उखाड़ फेंकने के लिए एक अलग विशाल संगठन बनाया गया था। डॉक्टर स्कॉट के अनुसार इन्द्रिय-रोग-विरोधी ऐसे अस्पतालों की व्यवस्था की गयी थी जो एक जगह से दूसरी जगह पहुँचते रहते थे। ये घूमते-फिरते अस्पताल थे और इनकी बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका थी। जिस ज़िले का भी दौरा ये अस्पताल करते उसके हर नागरिक की साल में कम-से-कम एक बार जाँच ज़रूर हो जाती। छोटे-से-छोटे अस्पताल में भी दो विशेषज्ञ, दो चिकित्सक (बिना डिग्री के), एक जाँच-पड़ताल करने वाली महिला, एक क्लर्क और दो अर्दली रहते थे। क़ानून ने ज़रूरी बना दिया था कि हर अस्पताल के साथ कम-से-कम इतने आदमी तो होने ही चाहिए। जाँच-पड़ताल के नये-से-नये साधन उनके पास मौजूद रहते। सिफलिस और गिनोरिया के इलाज की नयी-से-नयी दवाएँ साथ रहतीं। मर्दों और औरतों के इलाज के लिए अलग-अलग जगहों और अलग-अलग समय की व्यवस्था थी। एक समय तो सोवियत रूस में इस तरह के लगभग 2000 अस्पताल थे। बाद में इन दलों ने छुआछूत सम्बन्धी बीमारियों की जाँच-पड़ताल और इलाज का भार सम्हाल लिया।

सोवियत संघ के अस्पतालों में काम करने वाले अधिकारियों के चिकित्सा सम्बन्धी कर्तव्य के अलावा, कुछ सामाजिक कर्तव्य भी थे। वे इन्द्रिय-रोगों, वेश्यावृत्ति तथा इन्द्रिय-रोग सम्बन्धी दूसरी समस्याओं पर भाषणों और अध्ययन के कार्यक्रमों का भी आयोजन करते। सिनेमा के ज़रिये, इश्तिहारों के ज़रिये और प्रदर्शनियों के ज़रिये जनता का समर्थन हासिल किया जाता। इसलिए, जब आम लोगों की इन्द्रिय-रोगों सम्बन्धी जाँच-पड़ताल शुरू हुई तो जनता ने न तो विरोध किया और न बेरुख़ापन अपनाया। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम हो गयी जिन्होंने रोगी होते हुए भी, इलाज की तरफ़ लापरवाही का रुख़ अपनाया हो। डॉक्टर स्कॉट ने बताया है कि सोवियत-रूस में क़ानून यह है कि जो पुरुष या स्त्री अपनी इच्छा से, जानबूझकर, इन रोगों को फैलायेंगे उन्हें छह महीने से तीन साल तक की सज़ा दी जायेगी। परन्तु इस क़ानून को शायद ही कभी इस्तेमाल करने की ज़रूरत पड़ी हो।

डॉ. स्कॉट के अनुसार सोवियत रूस के मौजूदा इन्द्रिय-रोग-विरोधी अस्पतालों में आर्सेनिकल्स तथा सल्फ़ानमाइड्स दोनों का इस्तेमाल होता था। यह स्थिति थी

पैनिसिलिन चिकित्सा शुरू होने से पहले। पर सोवियत विशेषज्ञों ने जो अत्यन्त सफल द्रव्य तैयार किया, वह था ग्लूकोस्ट्रेप्टोसाइड अर्थात सल्फ़ानमाइड्स और ग्लूकोज का सम्मिश्रण।

युद्ध शुरू होने के पहले 1941 में, सिफलिस-विरोधी आन्दोलन ने इस रोग के प्रारम्भिक रूपों को क़रीब-क़रीब ख़त्म कर दिया था। 1935 में मास्को के मेडिकल स्कूलों के विद्यार्थियों के सामने इस रोग के प्रदर्शन हेतु रोगियों को ढूँढ़ निकालना तक मुश्किल था। इस रोग के पुराने मरीजों में रोग के लक्षण तीस साल बाद भी उभर आते हैं। इसलिए, ऐसी सिफलिस का इलाज अब भी जारी है।

डॉ. स्कॉट के भाषण पर अपना मत प्रकट करते हुए डॉ. आर. फारगन ने कहा है कि "रूस की फ़ैक्टरियों में स्वास्थ्य-शिक्षा का जो काम किया गया है, उससे हम इंग्लैण्ड की हालत की तुलना करें तो वह हमारे लिए चुनौती है। इसमें सन्देह नहीं कि इंग्लैण्ड में स्वास्थ्य और श्रम के मन्त्री फ़ैक्टरियों में स्वास्थ्य शिक्षा को बढ़ावा देते रहे हैं। पर सोवियत रूस की स्वास्थ्य योजना से तुलना करने पर यह सब बहुत नाकाफ़ी रहा है।" उन्होंने दोनों सरकारों के रवैये में अन्तर बताया। "आज से कुछ साल पहले इंग्लैण्ड की फ़ैक्टरियों में एक इश्तिहार घुमाया जा रहा था जिसमें कहा गया था कि जिस किसी पुरुष या स्त्री को इन्द्रिय-रोग का शक हो, वह किसी डॉक्टर से मिले या किसी अस्पताल में भर्ती हो जाये। पर सरकार के श्रम-विभाग ने ही इसका विरोध किया।"

एक दूसरे विशेषज्ञ डॉ. नबारो ने रूस के गाँवों में इन्द्रिय-रोग-विरोधी आन्दोलन का ज़िक्र किया है और कहा है : "इतने बड़े देश में जब ऐसी सफलता हासिल हो सकती है तो ग्रेट ब्रिटेन जैसे देश के लिए तो यह बच्चों का खेल होना चाहिए - बशर्ते कि इरादा पक्का हो। पर, लगता है हमारे यहाँ तो ऐसे इरादे की ही कमी है।"

निश्चय ही, तथ्यों को छिपाया नहीं जा सकता। पूँजीवादी देशों के वैज्ञानिक और स्वास्थ्य-अधिकारी इन्द्रिय-रोगों पर क़ाबू पाने के लिए खोजबीन और इलाज सम्बन्धी हर सुविधा का लाभ उठा रहे हैं। वे सिफलिस और गिनोरिया के एक हफ़्ते और एक दिन वाले इलाजों तक को ढूँढ़ निकालने में जुटे हैं। पर अकेली फ़ौज में ही बड़े सख़्त उपायों को लागू करके - जिन्हें आम नागरिकों पर लागू नहीं किया जा सकता - वे वास्तविक सफलता पा सके। लेकिन आगे क्या होने वाला है?

हमारे देशों के वैज्ञानिक उसी स्वस्थ दृष्टिकोण की ओर अब धीरे-धीरे झुकते आ रहे हैं जो 'अमेरिकी पब्लिक हेल्थ सर्विस' के अधिकारी डॉ. रोगर ई. हियरिंग ने 1943 में न्यूयार्क के 'ट्यूबरकुलोसिस एण्ड हेल्थ एसोसिएशन' के

सन्मुख व्यक्त किया था। उन्होंने कहा था :

"इन्द्रिय-रोगों पर क़ाबू पाने के लिए किन्हीं रहस्यमयी शक्तियों की मदद की ज़रूरत नहीं होती। ज़रूरत होती है समस्या को समझने की, बीमारियों के बारे में कुछ ज़रूरी बातों को समझने की, मानव स्वभाव को समझने की और इस विश्वास की कि हाँ कुछ किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।" उन्होंने कहा : "ये बीमारियाँ संक्रामक होती हैं, इनका लग जाना कोई बेइज़्ज़ती की बात नहीं।" उन्होंने और आगे कहा : वेश्या "अपराधी नहीं है, वह तो एक सामाजिक समस्या है...असली अपराधी तो वेश्याओं के शोषक हैं।"

उपरोक्त बातें इन्द्रिय-रोगों को ख़त्म करने का कार्यक्रम नहीं कही जा सकतीं। पर कुछ बुनियादी बातें इनमें ज़रूर कही गयी हैं। "एक रोज़ में सिफलिस के अचूक इलाज" को जो बेज़रूरत महत्व दिया जा रहा था, डॉ. हियरिंग ने उसकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया (एक पत्रिका में पॉल द क्रुक महोदय ने अपने एक लेख में ऐसे इलाज की कल्पना की थी)। डॉ. हियरिंग ने कहा कि एक ओर तो अवैज्ञानिक विचार और दूसरी ओर सिफलिस के इलाज में उन्नति, दोनों ही "उस भय को हटाये दे रहे हैं जो बहुधा इन्द्रिय-रोगों को रोकने में मददगार होता है।" 1944 में अमेरिका के जन स्वास्थ्य विभाग ने बताया कि अमेरिका में गिनोरिया के मरीजों में 11 फ़ीसदी बढ़ती पायी गयी है। इसका कारण सम्भवत: सल्फ़ा-ड्रगों के द्वारा तुरत-फुरत इलाज का धुआँधार प्रचार था। देखा गया कि चिकित्सा सम्बन्धी अनुसन्धान से ज्यों-ज्यों इलाज के तरीक़ों में उन्नति हुई है, त्यों-त्यों नैतिक संयम भी ढीले पड़ते गये हैं। कारण यह है कि रोगों से पीड़ित होने का भय कम होता गया। इसीलिए अक्सर देखा गया है कि चिकित्सा में उन्नति के बावजूद रोगों में बढ़ती होती है। एक बड़े पैमाने पर ऐसी दवा खोज निकालने के प्रयत्न जारी हैं जिसका इस्तेमाल कर लेने-भर से सिफलिस या गिनोरिया का डर जाता रहेगा। वेश्यावृत्ति और इन्द्रिय भोग पर इसका क्या असर पड़ेगा यह सोचना मुश्किल नहीं। यह जानकर दुख होता है कि हमारे यहाँ के बड़े-बड़े चिकित्सक, जो जनता के स्वास्थ्य की रक्षा का दावा करते हैं, वेश्यावृत्ति को सिर्फ़ इसलिए बुरा ठहराते हैं कि उससे इन्द्रिय-रोग बढ़ते और फैलते हैं। कुछ चिकित्सक तो अनैतिकता और व्यभिचार की व्यापक समस्या के बारे में सोचने-विचारने का कष्ट करना भी उचित नहीं समझते। वे कहते हैं, विज्ञान का इस समस्या से क्या ताल्लुक?

ज़ारकालीन रूस में व्यभिचार और हमारे देशों में व्यभिचार में अन्तर है तो केवल इतना कि ज़ार सरकार के अन्तर्गत व्यभिचार की बढ़ती को खुल्लमखुल्ला माना जाता था और उसे रोकने पर सख़्त पाबन्दी लगायी जाती थी, जबकि हमारे

देशों में यह दिखावा किया जाता है कि यहाँ संगठित व्यभिचार समाज के सबसे निचले अंग में हैं। आज हम "वैज्ञानिक" हो गये हैं, पर सिर्फ़ इतने कि बिना नाक-भौं सिकोड़े हम सिफलिस और गिनोरिया के बारे में बातें सुन और पढ़ लेते हैं। पर अनैतिकता की समस्या पर विचार करते समय हम इस सीमा से आगे नहीं बढ़ना चाहते। हमारे यहाँ के बड़े-बड़े डॉक्टर समझदार होने का दावा करते हैं। वे बातें भी बड़ी गम्भीर कहते और सुनते हैं। पर असलियत में उन्होंने जो कुछ किया है वह यह कि सामाजिक ढकोसले पर डॉक्टरी बातों का मुलम्मा चढ़ा दिया है। वे बाबा और परबाबा के ज़माने के व्यभिचार-विरोधी आन्दोलन को ही ज्यों का त्यों दुहरा रहे हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि बाबा और परबाबा कहते थे : 'बेटे! संयमी बनो, सदाचारी बनो।' ये लोग कहते हैं – 'भाइयो! सल्फ़ा-ड्रग और पेनिसिलिन का इस्तेमाल करो।' डॉक्टरों के बीच जो गुमराही फैली हुई है उससे और कोई नतीजा नहीं निकाला जा सकता। आख़िर इस बहस का और मतलब ही क्या है कि जाने-माने वेश्यागृहों या ग़ैर-क़ानूनी जगहों पर केन्द्रित रखने पर – जिन्हें पुलिस बर्दाश्त करती है – व्यभिचार को "सीमित" रखा जा सकता है। इसका उद्देश्य इस सड़ी-गली दलील को पेश करने के अलावा और कुछ नहीं है कि इन्द्रिय-रोग लगना ज़रा मुश्किल बना दिया जाये।

इतिहास बताता है कि बहुत पहले ही, ज़ारशाही रूस में, यह बहस अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच चुकी थी। आइए, हम लोग बुनियादी बातों को ही पकड़ें। इन्द्रिय-रोग फैलते कैसे हैं? इन्द्रिय-भोग से। पुरुष और स्त्रियाँ इन रोगों के वाहक होते हैं। मानी हुई बात है, पुरुषों और स्त्रियों का अस्तित्व मिटाया नहीं जा सकता। उन्हें न तो अस्पतालों में बन्द किया जा सकता है, न क़ैद किया जा सकता है। वजह साफ़ है। हम इतने अस्पताल न तो बना सकते हैं, न चला सकते हैं जिनमें बेशुमार मरीजों को रखा जा सके। न ही यह मुमकिन है कि इन्द्रिय-रोगों से पीड़ित लोगों को दूसरों से मिलने-जुलने न दिया जाये। समस्या हमें एक तरह की भूलभुलैया में डाल देती है।

इस निराशावादी स्थिति से ही इस विचारधारा को बढ़ावा मिला कि व्यभिचार और इन्द्रिय-रोग अनन्त काल तक क़ायम रहेंगे। पर, अपने युग की विकसित सभ्यता को देखकर हम मानने को तैयार नहीं होते कि सिफलिस और गिनोरिया जैसी बलाएँ हमेशा हमसे चिपटी रहेंगी। इसीलिए, डॉक्टरों ने सावधान होने की झण्डी दिखायी नहीं कि हमने भूलभुलैया में एक बार फिर चक्कर लगाना शुरू कर दिया।

महीने में पाँच करोड़ बार

इसके पहले कि व्यभिचार के खिलाफ़ सोवियत रूस के संघर्ष का हम विस्तार से वर्णन करें, यह अच्छा होगा कि अमेरिका में इन्द्रिय-रोगों के खिलाफ़ संघर्षों की बात पूरी कर ली जाये। पर्ल-हार्बर की घटना के बाद अमेरिका में कई बार अलग-अलग जगहों में पूरी तैयारी के साथ इन्द्रिय-रोग-विरोधी आन्दोलन चलाये गये हैं। सोवियत रूस में चलाये गये आन्दोलनों से ये कई बातों में भिन्न हैं। पर भिन्नता की सबसे खास चीज़ यह है : अमेरिकी आन्दोलनों में ज़्यादा ध्यान चिकित्सा सम्बन्धी समस्याओं पर दिया गया; सोवियत रूस में ज़्यादा ज़ोर दिया गया रोगों के सामाजिक कारणों को खत्म करने पर।

शुरू-शुरू के आन्दोलनों में सबसे मुख्य 'सैक्रामेण्टो सिटी हेल्थ डिपार्टमेण्ट' का आन्दोलन है। यह अगस्त 1941 में शुरू हुआ था। इन्द्रिय-रोगियों की संख्या में बढ़ती का मूल कारण उन दिनों वेश्याओं और विक्ट्री-गर्ल्स को समझा जाता था। डॉक्टरों और पुलिस ने इसके खिलाफ़ जैसी कार्रवाई करने का सुझाव दिया था, क़ानून ने उसे मुश्किल बना दिया था। इसलिए उपरोक्त स्वास्थ्य विभाग ने हल का एक नया उपाय सोचा। इन्द्रिय-रोगों सम्बन्धी एक प्रयोगशाला खोली गयी। तमाम पुरुष नागरिकों और फ़ौजियों से कहा गया कि वे ठीक-ठीक इलाज के लिए इस चिकित्सा-केन्द्र में उपस्थित हो जायें।

इस प्रयोगशाला का उद्देश्य बहुत सीधे-सादे शब्दों में बताया जा सकता है। यह केन्द्र शाम को सात बजे से सुबह तीन बजे तक खुला रहता था। यही वह समय होता जब लोगों के इन्द्रिय-रोग हासिल करने की सम्भावना ज़्यादा होती थी। एक कम्पाउण्डर प्रयोगशाला में ऐसी दवाएँ लिये तैयार रहता जिनके इस्तेमाल से सिफलिस और गिनोरिया के होने का डर जाता रहता। प्रयोगशाला चट बीमारी पट इलाज के लिए बड़े काम की थी। यह एक मकान के नीचे के हिस्से में स्थित थी। इसका एक दरवाज़ा सड़क की तरफ़ था। इस दरवाज़े पर लिखा था – "इन्द्रिय-रोगों के इलाज का केन्द्र"। यहाँ एक हरी बत्ती जला करती थी।

अन्दर बहुत मामूली-सा सामान रहता। दिन के वक्त स्वास्थ्य विभाग के विशेषज्ञ और सामान ले आते थे। इसलिए दिन में इलाज का ज़्यादा अच्छा प्रबन्ध रहता था।

"प्रचार" के दो तरीक़े अख़्तियार किये गये। पहला तो यह : तमाम जानी-मानी वेश्याओं और आवारा औरतों से कहा गया कि अगर तुम नहीं चाहतीं कि तुम्हारे सम्पर्क में आने से लोगों को इन्द्रिय-रोग लगें और पुलिस तुम्हें भगाने पर तुल जाये, तो अपने यहाँ आने वाले सभी लोगों को तुम फ़ौरन इस जगह भेज दिया करो। दवा लगवाकर रोग से उनकी बचत हो जायेगी। प्रचार का दूसरा तरीक़ा कम सीधा-सादा था। तमाम नाचघरों, शराबख़ानों में सैकड़ों इश्तिहार चिपकवा दिये गये थे। इन इश्तिहारों में नीचे लिखी इबारत होती थी :

इन्द्रिय-रोगों से बचा जा सकता है

रोग-निरोधक मुफ़्त उपलब्ध

15 मिनट के भीतर-भीतर

पहुँचिए

स्वास्थ्य-विभाग के मुफ़्त चिकित्सा केन्द्र में

(यहाँ पता रहता था)

कम्पाउण्डर ड्यूटी पर मिलेगा

चिकित्सा केन्द्र शुरू होने के प्रारम्भिक चार महीनों में ही लगभग चार हज़ार व्यक्ति इलाज के लिए यहाँ पहुँचे थे। इनमें नागरिकों और फ़ौजियों की संख्या बराबर-बराबर थी। रोग लगने के खतरे और इलाज के लिए पहुँचने के बीच के वक्त को लोग आमतौर से 15 मिनट बतलाते थे। चूँकि इलाज कराने वालों के बारे में सूचना गुप्त रखी जाती थी, इसलिए उनके नामों की फ़ेहरिस्त नहीं रखी गयी। इस तरह इस बात का भी कोई सबूत नहीं कि ये दवाएँ दरअसल सिफलिस और गिनोरिया से बचाव में कामयाब हुई या नहीं। अन्दाज़ा लगाया गया कि वे कामयाब होती होंगी। पर, चूँकि किसी तरह के आँकड़े नहीं रखे गये और जाँच कर सकने की गुंजाइश मौजूद नहीं रही, इसलिए इस पूरी योजना को एक अवैज्ञानिक रूप दे दिया गया। (लोगों के 'केन्द्र' पर पहुँचने पर कम्पाउण्डर उनसे प्रश्न पूछता कि आपने रोग किसी वेश्या से, या किसी आवारा लड़की से, या किसी बदचलन लड़की से हासिल किया है? इस प्रश्न के उत्तर को ही स्वास्थ्य-विभाग की फ़ाइल में दर्ज किया जाता था।) सैक्रामेण्टो नगर के अस्पताल के डॉ. रसेल फ्रांज ने अगस्त 1942 के **वेनरल डिज़ीज़ इन्फ़ॉर्मेशन** में कहा : "इस बात की दुबारा तहक़ीक़ात की ज़रूरत है कि एक बड़े पैमाने

पर नागरिकों में सफल इन्द्रिय-रोग-विरोधी दवा का इस्तेमाल मुमकिन है या नहीं।"

अन्य नगरों में भी ऐसे प्रयोग किये गये। उनका वर्णन करना पहले कही गयी बातों को दोहराना ही होगा।

परिस्थिति में परिवर्तन हुआ 1944 में। पेनिसिलिन बड़े पैमाने पर तैयार की जाने लगी। सिफलिस और गिनोरिया के इलाज में उससे आश्चर्यजनक सफलता मिली। अब इस बात की उम्मीद पैदा हुई कि इन्द्रिय-रोगों को न सिर्फ़ रोका जा सकता है, बल्कि पूरी तरह जीता जा सकता है। फ़ौज और नौसेना को इस बात की अपूर्व सुविधाएँ थीं कि हज़ारों आदमियों पर बड़ी सावधानी से अनेक प्रयोग किये जा सकें। साथ ही, इन्द्रिय-रोगों की जाँच के तरीक़ों को भी सुधारा गया। इस तरह एक व्यापक पैमाने पर डॉक्टरी और सामाजिक आन्दोलन चलाना मुमकिन हो सका।

पहला आन्दोलन शुरू हुआ अलाबामा में 1943 में। विलकौक्स काउण्टी का धनी ज़मींदार सिनेटर ब्रूस हेण्डरसन एक क़ानून पास कराने में सफल हुआ। इस क़ानून के अनुसार 14 से 50 साल तक के सभी नागरिकों को अपने ख़ून की जाँच करवाना आवश्यक हो गया, ताकि यह जाना जा सके कि उन्हें सिफलिस है या नहीं। एक दूसरे क़ानून से यह ज़रूरी हो गया कि जिन लोगों में रोग पाया जाये वे अपने डॉक्टर से या सरकारी डॉक्टरी से इलाज करवायें। सरकारी डॉक्टर मुफ़्त इलाज करता था। जो लोग ख़ून की जाँच कराने से इन्कार करते या टाल-मटोल करते उन पर 100 डॉलर के जुर्माने की व्यवस्था थी। यही सज़ा उन लोगों के लिए थी जो रोग से पीड़ित होने पर भी इलाज न करवाते। एक सिरफिरे सिनेटर ने ये क़ानून बड़ी लापरवाही से पास करवा दिये थे। उस समय सपने में भी खयाल न किया जा सकता था कि ये क़ानून अन्त में कितने बड़े आन्दोलन का रूप धारण कर लेंगे।

सिनेटर हेण्डरसन का मक़सद साफ़ ज़ाहिर है। अपने क्षेत्र से वह इन्द्रिय-रोगों को उखाड़ फेंकना चाहता था। इससे उसे लाभ ही लाभ था। हर साल नीग्रो मज़दूरों के ख़ून की जाँच किये जाने से चिकित्सा पर पहले जितना व्यय होता था, अब उतना न रह गया। अब व्यय में 75 प्रतिशत कमी हो गयी। हेण्डरसन ने देखा कि इस उपाय से खर्चे में बचत की जा सकती है।

साल-भर में ख़ून की परीक्षा के लिए सिर्फ़ 75 हज़ार डॉलर राज्य की ओर से मंजूर किये गये। प्रयोग के लिए बरमिंघम का क्षेत्र चुना गया। वहाँ की आबादी लगभग पाँच लाख है। आबादी का 40 फ़ीसदी हिस्सा नीग्रो लोगों का है जो हर प्रकार के शोषण से पीड़ित रहते हैं। उन पर चुनाव-कर तो लगाया ही जाता है, उनकी शिक्षा और रहन-सहन का स्तर भी बहुत नीचा है। फिर भी, इन्द्रिय-रोग-विरोधी यह आन्दोलन काली और गोरी दोनों जातियों के लिए चलाया गया था।

प्रचार के बड़े सनसनीखेज तरीक़े अपनाये गये। सभी ख़ास-ख़ास सड़कों पर बड़े-बड़े इश्तिहार चिपकवा दिये गये। इनमें लिखा रहता : "इन्सान को अपाहिज बना देने वाले महारोग गिनोरिया का पेनिसिलिन से सिर्फ़ चार घण्टे में इलाज!" "पेनिसिलिन से सिफलिस का इलाज सिर्फ़ नौ दिन में!" प्रचार के हरेक साधन को मैदान में उतार दिया गया। सड़कों पर प्रचार करने वाली मोटर-गाड़ियाँ घूमने लगीं। हर आधे घण्टे बाद रेडियो से भी प्रचार होने लगा। अमेरिकी जन-स्वास्थ्य विभाग ने बड़ी तत्परता से सहयोग दिया। कितने ही प्रसिद्ध स्वास्थ्य अफ़सरों ने भी हाथ बँटाया। आन्दोलन को फैलाने के लिए लगभग एक हज़ार पुरुषों, स्त्रियों और लड़कियों ने स्वयंसेवकों का काम किया। इन स्वयंसेवकों में कुछ व्यापारिक संगठनों, कुछ मज़दूर संगठनों, कुछ महिला क्लबों - यहाँ तक कि कुछ गिरजाघरों - के लोग भी शामिल थे।

देखने वाले दाँतों तले उँगली दबाते। वह बरमिंघम यहाँ के नागरिक कुछ ही साल पहले सिफलिस और गिनोरिया का नाम सुनकर "शिव-शिव" करने लगते थे, अब इन्द्रिय-रोग विरोधी आन्दोलन का बड़े उत्साह से समर्थन कर रहे थे। अख़बारों ने तो एक नया नारा पकड़ लिया था : "अपने मित्रों और रिश्तेदारों से रक्त-जाँच के केन्द्रों पर मुलाक़ात करो!"

आन्दोलन मई महीने के मध्य में शुरू हुआ और पूरे जून-भर जारी रहा। इस तरह का और इतना बड़ा जन-आन्दोलन, निस्सन्देह, अब तक दुनिया में कहीं नहीं हुआ था। इससे पहले कभी भी इतने बड़े पैमाने पर इन्द्रिय-रोगों की परीक्षा का आयोजन नहीं किया गया था। हिलमन म्यूनिसिपल अस्पताल में एक ख़ास प्रयोगशाला खोली गयी। दुनिया की यह सबसे बड़ी प्रयोगशाला म्युनिसिपल अस्पताल के उस कमरे में, जहाँ पहले मुर्दे रखे जाते थे, खोली गयी थी।

इस प्रयोगशाला का नाम कुछ ही दिनों बाद 'जाओ लौटो' पड़ गया। वजह यह थी कि इसमें काम करने वाले नागरिक और फ़ौजी-विशेषज्ञ एक दिन में दस हज़ार लोगों के ख़ून की जाँच करते थे। 42 दिन में 300,000 लोगों के ख़ून की जाँच की गयी। ख़ून की जाँच के केन्द्र जगह-जगह थे। वहाँ से ख़ून के नमूनों की शीशियाँ टैक्सी-गाड़ियों में भरकर प्रयोगशाला में पहुँचायी जाती थीं। ख़ून की जाँच मज्जिनी माइक्रोस्कोप के तरीक़े से की जाती थी। इससे सौ फ़ीसदी सही ही जाँच नहीं होती थी; इससे जाँच जल्दी भी होती थी। ज़्यादा तत्परता से जाँच कर सकना मुश्किल भी था। वजह यह थी कि स्वयंसेविकाओं को एक दिन में

20,000 ट्यूब, 12,000 काँच की पट्टियाँ धोनी पड़ती थीं। क्लर्कों और खून के नमूने लेने वालों पर काम का बेहद बोझ रहता था। रक्त-जाँच केन्द्रों की हालत चुनाव-केन्द्रों जैसी होती। एक क्लर्क तो हर नागरिक का नाम, पता, उम्र और टेलीफ़ोन नम्बर लिखता तथा उसे एक काँच का ट्यूब और उसी नम्बर का एक सफ़ेद कार्ड देता। ट्यूब रक्त की जाँच के लिए होता था और कार्ड इस बात का सबूत कि इस नागरिक के रक्त की जाँच की जा चुकी है। दूसरे क्लर्क रंगीन पर्चियों पर यही पता और नम्बर लिख लेते। ये पर्चियाँ एक केन्द्रीय दफ़्तर में भेज दी जातीं। जिन लोगों के खून में रोग के कीटाणु मिलते उनका पता लगाने में इन पर्चियों से मदद मिलती थी। रोग से पीड़ित लोगों की जाँच या तो उनके निजी डॉक्टर करते या उन्हें अस्पताल जाना पड़ता। राशन कार्डों के पतों के आधार पर पूरी आबादी की जाँच हो जाती। मुश्किल से बहुत थोड़े लोग बाक़ी रह जाते। जानबूझकर टाल जाने वाले लोग सिर्फ़ इक्के-दुक्के ही होते।

रक्त-जाँच के 48 घण्टे के भीतर ही प्रयोगशाला से रिपोर्ट केन्द्रीय-दफ़्तर पहुँच जाती थी। अगर रिपोर्ट बताती कि ख़ून साफ़ है तो मामले को आगे न बढ़ाया जाता। जिन लोगों को तीन दिन के भीतर-भीतर स्वास्थ्य विभाग से कोई समाचार न मिलता, वे समझ लेते कि उनके ख़ून में कोई गड़बड़ी नहीं है। पर जब प्रयोगशाला से किसी के बारे में रिपोर्ट मिलती कि उसके ख़ून में ख़राबी है तो विशेष पड़ताल करने वाले लोग इन मरीजों की तलाश में निकल पड़ते। इन मरीजों को एक डॉक्टर के द्वारा अपने ख़ून की जाँच दुबारा करवानी पड़ती।

जाँच के लिए उम्र के हिसाब से लगभग 290,000 लोग आन्दोलन के अन्तर्गत आये। कुल मिलाकर 300,000 लोगों के रक्त की जाँच हुई। इनमें ऐसे लोग भी शामिल थे जिन पर शक था कि उनकी जाँच हो चुकी है या नहीं; ऐसे लोग भी जिनके रक्त की दुबारा जाँच हुई। 90 फ़ीसदी से ज़्यादा लोग अपने-आप जाँच कराने के लिए उपस्थित हुए थे।

इस जाँच के परिणामों से, डॉक्टरों ने सिफलिस के मरीजों के जो आँकड़े बताये थे, उनकी पुष्टि हुई। 290,000 लोगों में से लगभग 40,000 लोग यानी 13.7 फ़ीसदी लोग सिफलिस से पीड़ित थे।

यह हालत थी युद्ध-काल में। बाद के कुछ ही सालों में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। पेनिसिलिन तथा दूसरी दवाओं से इन्द्रिय-रोगों के इलाज में भारी उन्नति हुई। "तुरत-फुरत इलाज" के दर्जनों 'केन्द्र' अमेरिका में कायम हुए। इन्द्रिय-रोगों के 'ख़ात्मे' के बारे में कुछ अधिकारियों ने बड़े उत्साह से बातें करनी शुरू कर दीं।

पर युद्ध बन्द होने के बाद मानो इन आशाओं पर तुषारपात हो गया हो। नयी दवाओं के बावजूद कनाडा और अमेरिका में इन्द्रिय-रोगों में और भी बढ़ती हुई।

कुछ लोगों का कहना है कि इन्द्रिय-रोगों की बढ़ती का मुख्य कारण वे दवाएँ ही थीं, जिनसे "बड़ी जल्दी और आसानी से" इलाज हो जाता था। ध्यान देने की बात यह है कि कनाडा और अमेरिका दो ऐसे देश थे जिनमें पेनिसिलिन का इस्तेमाल कई साल तक धुआँधार तरीक़े से हुआ। इन्द्रिय-रोगों से बचाव के तमाम सामान लाखों फ़ौजियों में बाँटने के बाद अमेरिका और कनाडा दोनों की ही फ़ौजों को 1945 में स्वीकार करना पड़ा कि इन्द्रिय-रोगों की दर और भी बढ़ रही है।

दिसम्बर 1945 में मैंने सर्जन जनरल के वाशिंगटन स्थित दफ़्तर के इन्द्रिय-रोग विभाग के प्रमुख अधिकारी, लेफ़्टिनेण्ट-कर्नल थॉमस स्टर्नबर्ग से टेलीफ़ोन पर बातचीत की। उन्होंने मुझसे जो बातें कहीं, वे ये हैं :

"पिछले साल के मुक़ाबले इस साल नवम्बर में इन्द्रिय-रोगों की दर दुगनी हो गयी है। पहले, एक हज़ार लोगों के पीछे लगभग 30 व्यक्ति इन्द्रिय-रोगों से पीड़ित होते थे, अब इनकी दर एक हज़ार के पीछे 60 है। 1944 में मरीजों की संख्या औसतन एक हज़ार के पीछे 33 थी। हमारी फ़ौज में हर जगह इन्द्रिय-रोगियों की संख्या में बढ़ती हुई है। पर, बढ़ती की दर अलग-अलग जगहों पर अलग-अलग है। फ़िलीपीन और दक्षिणी पैसिफ़िक में यह दर एक हज़ार के पीछे क्रमश: 80 और 100 है। सबसे ज़्यादा बढ़ती यूरोप में पायी गयी है - ख़ासतौर से विजय-दिवस के बाद। युद्ध बन्द होने से पहले वहाँ एक हज़ार के पीछे 40 की दर थी। अब यह दर एक हज़ार के पीछे 170 की है। इस तरह इन्द्रिय-रोगियों की संख्या में 325 प्रतिशत बढ़ती हुई है।"

मैंने पूछा : "इतनी ज़्यादा बढ़ती की वजह क्या है?"

उन्होंने कहा : "यह कोई ताज्जुब की बात नहीं है। तमाम लड़ाइयों के बाद यही हुआ है। लड़ाई के बाद आमतौर से ढील आ जाती है। फ़ौजियों के पास अब वक़्त की कमी नहीं रहती। समुद्र पार वे इन्तज़ार किया करते हैं कि कब उनके देश के लिए जहाज़ रवाना हो और कब वे घर जायें...बैठे-बैठे वे ऊबने लगते हैं। और तब मनोरंजन के दूसरे साधनों की तलाश करते हैं। शहरों में उन्हें ज़्यादा छुट्टी मिलती है और यहीं रोग पकड़ने की उनके लिए सबसे ज़्यादा सम्भावना रहती है।"

"किन्तु कर्नल साहब", मैंने पूछा, "सबसे महत्वपूर्ण कारण आप किसे ठहरायेंगे?"

"उत्तर स्पष्ट है। सबसे महत्वपूर्ण कारण इन्द्रिय-भोग है", उन्होंने कहा।

मेजर जार्जस लेकलर्क कनाडा की फ़ौज में इसी पद पर नियुक्त थे। उन्होंने कनाडा की फ़ौजों में इन्द्रिय-रोगों की इसी तरह की बढ़ती बतायी। अनेक अमेरिकियों और कनाडा के नागरिक अधिकारियों से मैंने पूछताछ की। उन्होंने

माँग की कि उनके उत्तर अख़बारों में न छापे जायें। पर उन सबके उत्तर मिलते-जुलते थे। युद्ध ख़त्म होने के बाद से इन्द्रिय-रोगों में भयानक बढ़ती देखी गयी और ख़तरा यह है कि इन्द्रिय-रोग ऐसे बुरी तरह फैलेंगे जैसे कभी देखे-सुने नहीं गये थे। फ़ौजी तो ऐसा रवैया अख़्तियार कर रहे हैं मानो वे समूची पुरानी शिक्षा को भूल गये हों। रोगों की जाँच-पड़ताल कराने और इलाज कराने में अब वे दिलचस्पी नहीं लेते। हालत इतनी नाज़ुक हो गयी है कि न्यूयार्क स्टेट मेडिकल **जर्नल** को नवम्बर में चेतावनी देनी पड़ी कि फ़ौज से लौटने वालों के परिवार उनसे सावधान रहें। **जर्नल** ने कहा : ये फ़ौजी अपने साथ सिफलिस और गिनोरिया भी ला रहे हैं।

कनाडा की हेल्थ लीग (स्वास्थ्य संगठन) के सुप्रसिद्ध डायरेक्टर डॉक्टर गौर्डन बेट्स अनेक वर्षों तक इन्द्रिय-रोग विरोधी आन्दोलन के भी अगुआ रहे हैं। उन्होंने कहा :

"यह जानी-मानी बात है कि बहुत से लोग – जिन्हें ज़्यादा बुद्धिमानी से काम लेना चाहिए था – सोचने लगे हैं कि इन्द्रिय-रोगों के बारे में मोटी बातें बता देना और जाँच-पड़ताल व इलाज की सुविधा कर देना ही इन्द्रिय-रोगों की रोकथाम के लिए काफ़ी है। कुछ और लोग हैं जो इस बात पर अड़े हैं कि इन्द्रिय-रोगों के बारे में सभी मूल बातें बतायी जायें, मानो इस शिक्षा से ही सिफलिस और गिनोरिया की रोकथाम हो जायेगी। यह साफ़ ज़ाहिर है कि यदि आदेशों के बूते पर ही इन्द्रिय-रोगों की रोकथाम की गयी तो शिक्षा और बेहतर इलाज से **सिर्फ़ इतना फ़ायदा होगा कि किसी व्यक्ति विशेष के रोग की अवधि कम हो जाये। किन्तु नैतिक और सामाजिक रोकथाम को भुला देने का परिणाम यह होगा कि रोग हासिल करने की दर बढ़ सकती है, इस तरह रोगियों की संख्या बढ़ जायेगी।**"

डॉ. बेट्स ने और भी सफ़ाई से कहा : "नैतिकता के आधार पर इन्द्रिय-रोगों की रोकथाम की बात करना तो जैसे फ़ैशन के ख़िलाफ़ बात हो गयी है। लेकिन ऐसी नैतिकता के बिना इन्द्रिय-रोगों की रोकथाम कर सकना असम्भव है जो हमारे आचार-व्यवहार और हमारी सामाजिक परिस्थितियों, दोनों को ही, प्रभावित करे।"

निश्चय ही यह दृष्टिकोण फ़ौजी डॉक्टरों के दृष्टिकोण का विरोधी है। अमेरिकी सेना में इन्द्रिय-रोग विरोधी आन्दोलन की बाबत हम लारीमोर और स्टर्नबर्ग की रिपोर्ट का पहले हवाला दे आये हैं। ताज्जुब है कि इन अधिकारियों ने नैतिक दलीलों को निरर्थक बताकर टाल दिया। इन्द्रिय-रोगों के ख़िलाफ़ फ़ौज के संघर्ष का उद्देश्य सिर्फ़ इतना था : रोग ज़्यादा लोगों को न लगने पायें। डॉ. लारीमोर और स्टर्नबर्ग के अनुसार फ़ौजी आन्दोलन की सफलता सिर्फ़ एक निर्णायक बात से जाँची जा सकती है : फ़ौज में कितने "प्रोफ़ीलैक्टिकों"[1] का इस्तेमाल किया गया? (यह 'सफलता' ऐसी थी जो युद्ध ख़त्म होते ही ख़त्म हो गयी और इन्द्रिय-रोगों में फिर भयानक बढ़ती शुरू हो गयी)।

अनैतिकता की समस्या को चूँकि हम चिकित्सा तक ही सीमित नहीं रख रहे हैं, इसलिए इन "प्राफ़ीलैक्टिकों" के बारे में हमें निश्चित राय क़ायम कर लेनी होगी।

इन्द्रिय-रोगों के ख़िलाफ़ अपने संघर्ष की सफलता को अलग-अलग जगहों पर और अलग-अलग वक़्त फ़ौज ने किस तरह जाँचा?

उसने पता लगाया कि मुफ़्त दिये गये "प्रोफ़ीलैक्टिकों" में से कितने "प्रोफ़ीलैक्टिक" लोगों ने लिये हैं।

यह संख्या इस बात को भी सूचित करने वाली है कि इन दवाओं की मदद से फ़ौजियों ने लगभग कितनी बार इन्द्रिय-भोग किया।

इस संख्या को सुनकर बहुत से लोग चौंक पड़ेंगे। आपको विश्वास न होगा। 1945 के आरम्भ में अमेरिकी फ़ौज में **हर महीने पाँच करोड़ "प्रोफ़ीलैक्टिकों" की खपत थी।**

यह है फ़ौजी आन्दोलन की सफलता की असलियत। पादरियों और नीतिज्ञों से नफ़रत करने वाले भी यह देखकर एक बार चौंक उठेंगे कि अमेरिकी फ़ौज के अस्सी लाख जवान एक महीने में पाँच करोड़ प्रोफ़ीलैक्टिकों का इस्तेमाल करते हैं।

इतिहास में कभी भी किसी राष्ट्र ने इतने बड़े पैमाने पर निरर्थक इन्द्रिय-भोग का घमण्ड नहीं किया था।

ज़रा सोचिये तो – महीने में पाँच करोड़ बार।

1945 से 1952 तक जो कुछ हुआ है वह इन्हीं बातों की पुष्टि करता है। उसे लेकर अध्याय लिखे जा सकते थे। पर संक्षेप में उसे इस तरह बताया जा सकता है :

एक, अमेरिकी फ़ौज में – ख़ासतौर से समुद्र पार गये फ़ौजी दस्तों में – इन्द्रिय-रोगों की दर पहले की ही तरह ऊँची है।

दूसरे, पाँच साल तक लगातार अमेरिकी नागरिकों की जाँच-पड़ताल और इलाज जारी रहे। पर इन्द्रिय-रोगों ने घटने का नाम नहीं लिया। 23 मार्च 1952 की अमेरिकी मेडिकल एसोसिएशन की रिपोर्ट से यही सिद्ध होता है। इस रिपोर्ट

1. इन्द्रिय-रोगों से बचाव के सामान का।

में जार्जिया स्थित अटलाण्टा नगर में पाँच साल तक इन्द्रिय-रोगों के खिलाफ़ संघर्ष का वर्णन है। दो लाख पचास हज़ार से भी ज़्यादा नागरिकों की जाँच की गयी थी। जितने लोगों को भी इन्द्रिय-रोगों से पीड़ित पाया गया, उनका फ़ौरन और मुफ़्त इलाज किया गया। पर, आन्दोलन के अन्त में डॉक्टर देखते यह हैं कि एक हज़ार के पीछे 100 लोग सिफलिस के रोगी हैं।

इस रिपोर्ट में गिनोरिया का नाम नहीं लिया गया था। मुझे सूचना मिली है कि गिनोरिया के मरीजों की संख्या तो और भी ज़्यादा है।

स्पष्ट शब्दों में कहा जाये तो अमेरिकी अपने आप को 'सभ्य नैतिकता' का ठेकेदार बताते हैं। पर इन्द्रिय-रोगों की आज वहाँ ऐसी बढ़ती हो रही है, जैसी शायद दुनिया के किसी सभ्य देश में पहले नहीं देखी गयी थी।

पाप के विरुद्ध पाँचसाला योजना

अनैतिकता के खिलाफ़ सोवियत-संघर्ष का अध्ययन हम फिर शुरू करते हैं। 1929 की गर्मियों में यह संघर्ष अपनी पूरी तीव्रता पर पहुँच गया। वैज्ञानिक रूप से संगठित योजना के अनुसार सरकार के बड़े-बड़े आठ मन्त्री-विभाग इस काम को लेकर आगे बढ़े।

श्रम के कमिसार को तमाम अकेली औरतों और अस्पतालों में उत्तीर्ण ग्रेजुएटों को काम देने की ज़िम्मेदारी सँभालनी पड़ी। सामाजिक सुरक्षा के कमिसारियत ने औरतों के ट्रेनिंग केन्द्रों और कारखानों को राष्ट्रव्यापी पैमाने पर फैलाने का काम सँभाला। उन सभी औरतों के रहने के लिए, जिनके अनैतिक प्रभावों के जाल में फँसने की सम्भावना थी, अच्छे मकानों की व्यवस्था की गयी।

जन-स्वास्थ्य के कमिसारियत ने अस्पतालों को और बढ़ाया, इन्द्रिय विशेषज्ञों को तेज़ी से शिक्षित करना शुरू किया, ठुकराई हुई माताओं की मदद के लिए विराट योजना तैयार की और माताओं व शिशुओं की सुरक्षा के केन्द्र खोले।

न्याय के कमिसारियत ने संगठित व्यभिचार के अवशेषों पर अन्तिम हमला बोला। पिछले दिनों न्याय के कमिसारियत ने सेना का पुनर्संगठन किया था और समाज के प्रति आदर की भावना से पूरित अत्यन्त कुशल पुलिस-दल भी तैयार कर लिया था। 1929 से पहले के पाँच सालों में व्यभिचार के कुछ संचालक, जो पकड़े नहीं जा सके थे, इधर-उधर लुक-छिप गये थे। उन्होंने मानसिक रूप से विकृत लड़कियों और औरतों को अपने जाल में फँसाना शुरू किया था। न्याय विभाग का साथ देते हुए घरेलू मामलों के कमिसारियत ने छिपे व्यभिचार गृहों को ढूँढ़ निकालने के लिए नये जासूस तैयार किये। इन व्यभिचार गृहों को चलाने वालों के लिए भारी सज़ा की व्यवस्था थी। ठेकेदारों को खत्म करने के काम में ये सभी लोग मदद देने लगे। जन-निरीक्षण के कमिसारियत ने लोगों में यह चेतना भरने में कुछ भी कसर नहीं उठा रखी कि इस संघर्ष में भाग लेना हर इन्सान की व्यक्तिगत ज़िम्मेदारी है, उसका सामाजिक कर्तव्य है। नवयुवकों में

व्यभिचार की भावना भरने वाले लोगों के ख़िलाफ़ आलोचना को और भी तीखा बनाया गया।

अन्त में, व्यापार और वित्त के कमिसारियतों से कहा गया कि वे तमाम संगठनों, संस्थाओं, अस्पतालों, कारख़ानों और "रक्षा के केन्द्रों" को धन की जितनी मदद पहुँचा सकें, पहुँचायें।

इस प्रकार वेश्यावृत्ति के ख़िलाफ़ जो संघर्ष शुरू हुआ उसमें नये परिवर्तन हुए। अब इस संघर्ष ने व्यभिचार और अनैतिकता के ख़िलाफ़ राष्ट्रव्यापी संघर्ष का रूप धारण कर लिया।

व्यभिचार के ख़िलाफ़ वैज्ञानिक हमले अब दिनों-दिन महत्वपूर्ण रूप धारण करने लगे। बेरोज़गारी के ख़त्म होने के साथ-साथ ग़रीब औरतों की संख्या भी नहीं के बराबर रह गयी। वेश्यावृत्ति का आर्थिक पहलू अब सीधा-सादा नहीं रह गया था। अब यह नहीं कहा जा सकता था कि ग़रीबी की वजह से औरतें व्यभिचार को अपनी जीविका का साधन बना लें। हाँ, कुछ औरतें ऐसी ज़रूर थीं जो ग़रीबी में जीवन बिताते-बिताते सोच बैठी थीं कि व्यभिचार के अलावा वे किसी और लायक हैं ही नहीं। समस्या थी उन्हें कैसे सुधारा जाये। स्वाभाविक था कि जब तक ऐसी थोड़ी औरतें भी समाज में रहेंगी, तब तक ऐसे पुरुष भी रहेंगे जो उनके पास भोग-लालसा की तृप्ति के लिए जायें। यह भी सम्भव था कि ये औरतें अपना एक छोटा-सा गिरोह बना लें और नयी उमर की तथा ढुलमुल युवतियों को अपने जाल में फँसाना शुरू कर दें।

सम्भवत: "वेश्यावृत्ति के" इस "अखाड़े" से निपटने का सबसे सरल उपाय यह होता कि ऐसी तमाम औरतों को गिरफ़्तार कर लिया जाता। उन्हें सुधार से परे घोषित करके किसी संस्था के सुपुर्द कर दिया जाता। लेकिन सोवियत अधिकारियों ने इस रास्ते को अपनाने से साफ़ इन्कार कर दिया। अन्त तक वे इसी वैज्ञानिक नैतिक सिद्धान्त पर अड़े रहे कि वेश्या किन्हीं विशेष आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों की उपज है; कि वह भी इन्सान है; कि वह समाज में एक 'गुलाम और शोषित' स्त्री है, जिसे नयी, लाभदायक तथा बलवती सामाजिक शक्तियों की सहायता से ही सुधारा जा सकता है। अस्पताल-कारख़ानों की सहायता करने वाली नागरिक समिति से सलाह-मशविरा करने के बाद सोवियत मनोवैज्ञानिकों ने इन केन्द्रों में और भी परिवर्तन करने का फ़ैसला किया।

परिस्थिति में किसी बुनियादी परिवर्तन के कारण ही ऐसा क़दम उठाया गया। 1924 में इन अस्पतालों में रहने वाली एक-चौथाई औरतें पेशेवर वेश्याएँ थीं, बाक़ी ग़ैर-पेशेवर; 1934 में इलाज के बाद ग़ैर-पेशेवरों की संख्या घटकर 25 फ़ीसदी और पेशेवरों की 75 फ़ीसदी रह गयी। बहुत से अस्पताल बन्द हो गये थे। बाक़ी बचे मरीज़ों में ज़्यादा संख्या उनकी थी, जिनके रोग इलाज से परे थे। बहुत-सी ऐसी थीं जिनमें मानसिक विकार के चिन्ह स्पष्ट दिखायी देते थे। मनोवैज्ञानिकों का कहना था कि यह लम्बे अरसे तक दरिद्रता में जीवन बिताने का नतीजा था। वे बड़ी लगन से ऐसी मरीज़ों का इलाज करने में जुट पड़े। हमारे देशों के विशेषज्ञ जो तरीक़े अपनाते हैं, उनसे ये तरीक़े भिन्न थे। सोवियत वैज्ञानिकों ने किसी स्त्री के मनोविकारों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित नहीं किया। उन्होंने उसके आसपास के सामाजिक-आर्थिक वातावरण में सुधार करना शुरू किया, ताकि वह स्वस्थ नैतिक जीवन बिता सके।

उनके तरीक़े अत्यन्त सरल और तर्कसंगत थे। 1934 में अस्पताल-कारख़ाने खुले-केन्द्र न रह गये। अब भी औरतों को इनमें भर्ती होने के लिए मजबूर नहीं किया जाता था; पर एक बार इलाज कराने के लिए राजी हो जाने पर उन्हें वहाँ दो साल तक ज़रूर रहना पड़ता था। अस्पतालों की दिनचर्या एकदम बदल दी गयी।

पहले इन अस्पतालों में दिनचर्या गाँव के स्वास्थ्य-केन्द्रों की दिनचर्या से मिलती-जुलती थी – तड़के उठना, वक़्त पर खाना, आराम के बँधे घण्टे, दिन में मामूली काम, निश्चित समय पर इलाज, मनोरंजन और पढ़ाई-लिखाई, रात को जल्दी सोना। अधिकांश महिलाओं और लड़कियों की यह दिनचर्या थी। पर पुरानी पेशेवर वेश्याओं पर इसका उल्टा असर पड़ता। सालों से उनकी आदत हो गयी थी अपनी दिनचर्या रात शुरू होने पर आरम्भ करने की। रात में जल्दी सोना उन्हें बहुत मुश्किल मालूम होता था। वे बिस्तर पर पड़ी-पड़ी करवटें बदला करतीं। धीरे-धीरे उनके दिल में अस्पताल की तरफ़ से नफ़रत पैदा होने लगती। रात को सड़कों पर इधर-उधर भटकने की उनकी पुरानी आदत फिर रंग दिखाने लगी।

अस्तु, दिनचर्या को बदलने के लिए घड़ी की सुई उल्टी घुमा दी गयी। अब अस्पताल-कारख़ाने की दिनचर्या शाम से शुरू होती और सुबह तड़के ख़त्म होती। सोकर उठने का समय दोपहर का हो गया था। बाद के काम इसी हिसाब से होते। नतीजा यह कि अस्पताल में भर्ती होने पर वेश्या देखती कि उसके काम के घण्टों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। रात को जब वेश्याओं की इच्छा मर्दों को तलाश करने की होती, तभी उन्हें लाभदायक कामों में लगाया जाता। इससे उनके इलाज में बड़ी मदद मिलती।

मनोविज्ञान का उपरोक्त सिद्धान्त बिल्कुल स्पष्ट है। पुरानी वेश्याओं में दो ख़ास मनोवृत्तियाँ थीं। एक शक्तिशाली मानसिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप तो उनमें रात को ज़्यादा काम करने की आदत होती है। दूसरी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अच्छे काम की तरफ़ झुकाव होने की बजाय उनमें काम से खिंचाव

की आदत होती। इन दोनों आदतों को एकाएक छुड़ा देना असम्भव था; मरीजों में निराशा ही बढ़ती। इसलिए अलग-अलग मरीजों के लिए अलग-अलग व्यवस्था की गयी। पहला काम था उनके पुराने क्रियाकलापों को बदलना।

अस्पतालों में जल्दी ही और भी कई मौलिक सुधार किये गये। उद्योग के कमिसारियत ने कारख़ानों के पुनर्गठन की योजना बनायी। मानसिक-चिकित्सा सम्बन्धी प्रयोग के लिए कीव नगर के अस्पताल को एक छोटा, किन्तु महत्वपूर्ण, धन्धा सौंपा गया। यह धन्धा था एलेक्ट्रो-मेडिकल यन्त्रों को बनाना। इन यन्त्रों की सोवियत डॉक्टरों को बहुत ज़रूरत थी। औरतों पर इस तरह के काम का बहुत अच्छा असर पड़ा। पहले उनसे कपड़े-लत्ते या आम खपत की चीज़ें बनवायी जाती थीं। ऐसे कामों में उनका जी न लगता था। पर उन्हें अब जो काम मिला था, वह आकर्षक और राष्ट्र के लिए अत्यन्त लाभदायक था। इसलिए औरतों ने बड़ी लगन से काम करना शुरू किया। उन औरतों के व्यक्तित्व में आश्चर्यजनक सुधार हुआ जिनके बारे में सोचा जाता था कि उनका दिमाग़ ठीक नहीं है, खासतौर से तब जब नये काम का महत्व उनकी समझ में आ गया। वे साफ़-साफ़ जानने लगीं कि जिस सामान को वे अपने हाथों से तैयार कर रही हैं, उसकी ज़रूरत उन्हीं जैसे नागरिकों की ज़िन्दगी बचाने के लिए है। अब उनकी समझ में आ गया कि उनके माथे ज़बरदस्ती काम नहीं थोपा जा रहा था। अब वे राष्ट्र के हित के लिए काम कर रही थीं।

यह प्रयोग आश्चर्यजनक रूप से सफल हुआ। दूसरे शहरों में भी ऐसी ही व्यवस्था की गयी। कमज़ोर स्वास्थ्य वाली औरतों के लिए मास्को के निकट एक कृषि-केन्द्र खोला गया। इस केन्द्र का ख़ास काम तरह-तरह की फ़सल उगाना और जानवरों की नस्ल सुधारना था। खेतीबारी के विस्तार के लिए सोवियत रूस को इन्हीं चीज़ों की ज़रूरत थी। इस केन्द्र में भी औरतों के सामाजिक उत्तरदायित्व और कर्तव्य पर ज़ोर दिया गया।

इन प्रयोगों के दौरान, औरतें कुशल-कारीगर बन जातीं। इस तरह राष्ट्र के आर्थिक जीवन में उनके लिए भी महत्वपूर्ण जगह बन जाती थी। पहले की निराशा में डूबी हुई औरतें जिस उत्साह से इन कामों की तरफ़ लपकतीं, उसे देखकर तटस्थ से तटस्थ मनोवैज्ञानिक भी उत्साह से झूम उठते। मज़दूरों और किसानों की समितियों से उन्होंने इस परिस्थिति के बारे में चर्चा की। इन कांफ्रेंसों में तय हुआ कि पुनर्वास का काम और तेज़ी से बढ़ाया जाये।

इसी उद्देश्य से चिकित्सा-सम्बन्धी अधिकारियों ने अपने प्रयत्नों को दुगनी तेज़ी से बढ़ा दिया। उनका उद्देश्य न सिर्फ़ इन्द्रिय-रोगों को दूर करना था, बल्कि औरतों के शारीरिक स्वास्थ्य को भी ठीक करना था। हर अस्पताल के साथ एक

सर्जन भी नियुक्त कर दिया गया। सिफलिस से जिन औरतों की नाकें और तलुवे ख़राब हो जाते थे, सर्जन उनकी चीर-फाड़ करके फिर से ठीक कर देते ताकि ये औरतें समाज में दुबारा सम्मानपूर्ण स्थान ग्रहण कर सकें। विशेष चिकित्सक उन महिलाओं की सहायता के लिए रहते जिन्हें साधारण वैवाहिक जीवन बिताने और सन्तान को जन्म देने योग्य फिर से बनाया जा सकता था। साथ ही, बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक काम भी शुरू किया गया। इन संस्थाओं में देश के अच्छे से अच्छे कलाकार और अभिनेता आकर अपनी कला दिखाते। मरीजों के लिए, मरीजों द्वारा अख़बार प्रकाशित किये जाते थे।

अस्पताल देश के साधारण जीवन से अलग नहीं थे। न ही मरीजों को राय दी जाती कि तुम अपने अतीत को भूल जाओ। उल्टे लम्बे काल से चली आने वाली और बहुत ही टिकाऊ सामाजिक कुरीति के ख़िलाफ़ संघर्ष में प्रत्येक महिला की निजी ज़िम्मेदारी का महत्व उसे अच्छी तरह समझाया जाता; यह एक ऐसा संघर्ष था जिसे हरेक देश में अब तक असफलता ही मिली थी। उसे बताया जाता कि अपने दूषित अतीत पर उसकी निजी जीत एक बहुत ही बड़े सामाजिक प्रयोग के लिए बड़े महत्व की चीज़ होगी। उसे बताया जाता कि मानव जाति को सुधारने के संघर्ष में उसका स्थान सबसे आगे की क़तार में है।

अस्पतालों में तो सफलता के चिन्ह साफ़ नज़र आने लगे थे। पर, कुछ सोवियत विशेषज्ञ ऐसे भी थे, जिन्हें सन्देह था कि ये "पुरानी खुर्राटें" बिना व्यभिचार के गढ़े में दुबारा फिसले समाज में फिर से प्रवेश करने लायक हो जायेंगी।

खुद महिलाएँ भी इस ख़तरे को कम करके नहीं आँक रही थीं। अन्त में, सामाजिक पुनर्व्यवस्था की एक योजना तैयार की गयी। यह योजना, संक्षेप में, इस प्रकार थी :

1. मरीज को तभी छुट्टी दी जाती जब समाज के एक हिस्से में उसके रहने का पूरा-पूरा बन्दोबस्त कर लिया जाता। यहाँ उसका अतीत एक गुप्त निधि रहता। यदि इस अतीत के बारे में किसी को मालूम रहता था तो सिर्फ़ उन इने-गिने लोगों को जिनसे अस्पताल में रहते हुए आख़िर के चन्द महीनों में मरीज ने पत्र-व्यवहार किया था। सामाजिक कार्य के ये वालण्टियर पहले से ही एक ऐसी नौकरी की जगह तदबीज कर रखते थे जिसके लिए महिला-रोगी को विशेष शिक्षा मिल चुकी होती। ये लोग उसके रहने के लिए एक सम्मानित परिवार में प्रबन्ध कर देते। इस महिला के किसी नये परिवार में आगमन की हर बारीकी पर बड़ा ध्यान दिया जाता ताकि उसके पिछले जीवन के बारे में किसी को सन्देह न होने पाये।

2. गिने-चुने संरक्षकों का दल हर महिला को दीर्घकालीन सहायता की गारण्टी करता। हमारे देशों में भी जाँच-पड़ताल का वक़्त देने की व्यवस्था है। पर उससे यह देखभाल बुनियादी तौर पर भिन्न थी। इस देखभाल का आधार था – समान लोगों से व्यक्तिगत मित्रता। ज़्यादा महत्व इस बात को दिया जाता था कि पुरानी मरीज अपने नये काम-धन्धे में सफलता प्राप्त करे। कम-से-कम एक संरक्षक इस महिला के साथ-साथ काम करता था।

3. हर ज़िले के संरक्षकों के अलग-अलग दल मिलकर सहायता समितियाँ बनाते थे। चिकित्सकों, मनोवैज्ञानिकों और फ़ैक्टरी मैनेजरों से सलाह-मशविरे के लिए इन समितियों की महीने में तीन बार बैठकें होती थीं। किसी भी मरीज के मामले में ज़रा भी गड़बड़ नज़र आयी नहीं कि कुशल और अनुभवी सहायकों से फ़ौरन मदद ली जा सकती थी। जैसे-जैसे समय बीता, पूरी तरह सुधरी मरीज स्त्रियाँ इन समितियों के काम को और भी अच्छा बनाने के लिए उनमें शामिल होने लगीं।

4. विवाह, धन्धे, तनख़्वाह, किराये वग़ैरह की किसी तरह कठिनाई में उलझ जाने पर उनकी ज़्यादा-से-ज़्यादा हिफ़ाज़त के लिए समितियों ने विशेष क़ानूनी मदद का भी प्रबन्ध कर दिया था।

5. पुरानी मरीजों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता कि जिन औरतों का अब भी अस्पतालों में इलाज हो रहा है, उनसे व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार करें। इसका उद्देश्य यह था कि समाज में फिर से दाख़िल होने की अस्पताल के मरीजों की इच्छा बढ़े और वे जल्द ही समाज में फिर से वापिस आ सकें।

अब हम सोवियत संघ में वेश्यावृत्ति के ख़िलाफ़ पन्द्रह सालों के वैज्ञानिक संघर्ष के दाँव-पेंचों को देख चुके हैं।

वह संघर्ष कभी का बन्द हो चुका है। अब तो वह सिर्फ़ एक याद-भर रह गया है। यह लड़ाई भी उन्हीं लड़ाइयों की तरह ख़त्म हुई जिनकी याद हमेशा के लिए हमारे दिलों में बस गयी है, अर्थात स्तालिनग्राद की लड़ाई, कीव की लड़ाई, सेवास्तोपोल की लड़ाई की तरह... जो दुश्मन को पूरी तरह हराकर समाप्त हुईं। सोवियत समाजवादी प्रजातन्त्र संघ के नगरों और गाँवों से, जैसाकि सभी विदेशी प्रेक्षकों ने स्वीकार किया है, वेश्यावृत्ति को पूरी तरह निकाल बाहर कर दिया गया।

1917 के ज़ारशाही पुलिस के अधूरे आँकड़ों को ही देखने से पता चलता है कि तत्कालीन सेण्ट पीटर्सबर्ग में कम-से-कम 60,000 वेश्याएँ थीं। इनके अलावा, कितनी ही हज़ार औरतें और ऐसी थीं जिनके नाम सरकारी काग़ज़ों में दर्ज नहीं, पर जो इसी तरह के धन्धों में लगी थीं।

आन्दोलन के पहले दौर के पाँच साल के बाद ही, 1928 में, ग़ैर-पेशेवर वेश्यावृत्ति पूरी तरह ख़त्म हो गयी। 25,000 से ऊपर पेशेवर व्यभिचारिणी औरतें अस्पतालों से निकलकर सम्मान प्राप्त नागरिक बन गयी थीं। लगभग 3 हज़ार पेशेवर वेश्याएँ अब भी मौजूद थीं।

ब्रिटिश जर्नल ऑफ़ वेनेरल डिजीजेज की मार्च 1945 की डॉ. जे.ए. स्कॉट की रिपोर्ट के अनुसार 1930 तक मास्को में वेश्याओं की संख्या घटकर लगभग 800 रह गयी। यही दशा दूसरे सोवियत नगरों की भी थी। ये ही थीं वे औरतें जिनके सुधार के अन्तिम हित में राष्ट्रव्यापी पैमाने पर संघर्ष का संगठन शुरू किया गया था।

परिणाम क्या रहा?

80 प्रतिशत से कुछ कम औरतें अस्पताल से निकलकर उद्योगों और खेतों में काम करने के लिए पहुँच गयीं।

40 प्रतिशत से अधिक "शॉक ब्रिगेडों में काम करने वाली" बन गयीं या राष्ट्र के लिए सम्मानपूर्ण काम करके उन्होंने नाम कमाया। अधिकांश ने विवाह कर लिया और माताएँ बन गयीं।

केवल 19 प्रतिशत से कम ऐसी निकलीं जो अपने आप को साधारण जीवन के अनुकूल नहीं बना सकीं। ट्रेनिंग के लिए उन्हें फिर अस्पताल लौटना पड़ा। बाक़ी ऐसी थीं जिन्हें बीमारी और बीते जीवन की कठिनाइयों ने इस लायक रखा ही नहीं था कि नये समाज में वे स्थान बना सकें।

इस तरह व्यभिचार के विरुद्ध संघर्ष – जो अब "गुलामों और पीड़ितों" का संघर्ष बन गया था – सोवियत जीवन से युगों पुराने व्यभिचार के व्यापार को सदा के लिए मिटा देने में सफल रहा। इस संघर्ष ने इन्द्रिय-रोगों का भी ख़ात्मा कर दिया। रूसियों की नयी पीढ़ी ने वेश्या को देखा तक नहीं है।

किन्तु सोवियत भूमि पर जहाँ-जहाँ नाजियों ने क़ब्ज़ा किया, वहाँ-वहाँ परिस्थिति ने फिर पलटा खाया। इस बार दशा और भी बुरी हुई। 1944 में दुश्मन को खदेड़ भगाने के बाद देखा गया कि हर तरह का छूत का रोग नाजियों के क़ब्ज़े वाले क्षेत्रों में फैला हुआ है। दसियों हज़ार सोवियत बालिकाओं और औरतों की इज़्ज़त नाजी फ़ौजियों ने धूल में मिला दी थी। इनमें से ज़्यादातर बालिकाओं और औरतों को सिफलिस या गिनोरिया का वरदान मिला। अभी भी पूरे आँकड़े इकट्ठे नहीं हो पाये हैं। इलाज का जो प्रबन्ध किया गया वह अब भी फ़ौरी ज़रूरत के आधार पर है। लेकिन उक्रेनी सोवियत समाजवादी प्रजातन्त्र को देखकर हम समस्या की सच्ची तस्वीर का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। सम्भवतः, उक्रेन को सबसे ज़्यादा नुक़सान उठाना पड़ा था। जन-स्वास्थ्य को वहाँ कैसा

धक्का लगा और रोगियों की हालत को सुधारने के लिए वहाँ अब क्या कुछ किया जा रहा था, इसकी सूचना सीधे उक्रेन के जन-स्वास्थ्य कमिसार इलारियोन कोनोनेंको ने ही दी।

नाजी आक्रमण के पहले उक्रेन को अपनी सुसंगठित जन-स्वास्थ्य व्यवस्था पर गर्व था। इस प्रजातन्त्र में 9 मेडिकल और दो फ़ार्मेसी कॉलेज थे। इन कॉलेजों में हर साल 3,500 विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। इनके अलावा 199 'मेडिकल स्कूल' थे जिनमें हर साल 20,000 चिकित्सा-विशेषज्ञ शिक्षित होते थे। ये विशेषज्ञ हमारे देश के प्रशिक्षित मेडिकल टेक्नीशियनों से मिलते-जुलते हैं। सोवियत रूस में इन विशेषज्ञों को जनता की सेवा में सक्रिय भाग लेना पड़ता। उन्हें लगभग वे ही अधिकार प्राप्त होते जो हमारे यहाँ के डॉक्टरों और रजिस्टर्ड नर्सों को प्राप्त होते हैं।

1941 में, उक्रेन में 1,932 अस्पताल थे जिनमें 1,29,000 मरीजों के रहने का इन्तज़ाम था। 2,445 ग्रामीण चिकित्सा केन्द्र थे। दवाख़ानों और शफ़ाख़ानों की संख्या 6,000 और छोटे दवा और शफ़ाख़ानों की संख्या 10,000 थी। मज़दूर संगठनों और सामूहिक फार्मों के अपने 400 स्वास्थ्य केन्द्र और 173 आरामगाहें थीं जिनमें हर साल दस लाख से ज़्यादा नौजवान और बच्चे स्वास्थ्य लाभ करते थे।

इन्द्रिय-रोगों को कुचल डालने में इस विराट स्वास्थ्य संगठन को उल्लेखनीय सफलता मिली थी। 1941 तक 90 फ़ीसदी सिफलिस को मिटा दिया गया था। बाक़ी सिफलिस ऐसे मरीजों को थी जिनका रोग बहुत पुराना पड़ चुका था। कैन्क्रायड (एक रोग) बिल्कुल मिटा दिया गया था। गिनोरिया ख़त्म किया जा रहा था। साथ ही, क्षय रोगियों की संख्या तेज़ी से घट रही थी।

इस सफलता में जच्चाओं के अस्पतालों ने बहुत महत्वपूर्ण सहायता दी थी। इनमें 31,000 मरीजों के रहने का इन्तज़ाम था। जच्चाओं के 1,647 विशेष स्वास्थ्य केन्द्र भी थे।

नाजी आधिपत्य ने जन-स्वास्थ्य के इस सुन्दर ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर दिया। अस्पतालों, शफ़ाख़ानों, कॉलेजों, तथा दवादारू की संस्थाओं को जानबूझकर धूल में मिलाया गया था। जो बाक़ी बचे थे उनमें आम जनता को घुसने की इजाज़त नहीं थी। आमतौर से जर्मन सेना इन अस्पतालों को अपनी ऐयाशी के केन्द्र बना रही थी। इन अस्पतालों के जर्मन सैनिकों और अफ़सरों के ऐयाशी के अड्डे बन जाने पर इंद्रिय-रोग इस बुरी तरह फैले जिसका कोई ठिकाना नहीं। रोगों की बढ़ती का सही-सही अन्दाज़ा लगाया जा सकता है, इसमें भी शक है, क्योंकि दसियों लाख बच्चों और नवयुवकों को ज़बरदस्ती उक्रेन से बाहर निकाल दिया गया था। कुछ लोगों का बाद में वापसी का ताँता लगा रहा जिससे ठीक आँकड़े रख सकना असम्भव हो गया।

किन्तु नाजी आतताइयों के खदेड़ दिये जाने के बाद हालात में तेज़ी से परिवर्तन हुए। मैंने खुद उक्रेन और रूसी प्रजातन्त्र के कितने ही ज़िलों का दौरा किया। ये ज़िले हिटलरी दरिन्दों ने अपने पैरों तले रौंद डाले थे। किन्तु युद्ध के बाद सरकार और जनता ने जिस आश्चर्यजनिक तेज़ी से वहाँ की हालत को सम्हाला उसके बारे में रूस जाने वाले हज़ारों विदेशी यात्रियों ने विस्तार से लिखा है। मैं तो हालत में इतनी जल्दी सुधार देखकर सचमुच दंग रह गया था। उन विशाल क्षेत्रों में भी जहाँ जर्मनों ने अपनी भगदड़ के वक्त क़रीब हर फ़ैक्टरी, हर रेलवे, हर अस्पताल और हर खेत को जलाकर खाक कर दिया था, अब फिर उच्च सभ्यता के दर्शन हो रहे थे। इन क्षेत्रों में 1950 में लगभग हर फ़ैक्टरी, रेलवे और अस्पताल नये दिखलायी पड़ रहे थे।

मेरी पत्नी जन-स्वास्थ्य विशेषज्ञ हैं और मुझे भी डॉक्टरी मामलों में काफ़ी जानकारी है। व्यक्तिगत अध्ययन के बाद हम दोनों दावे के साथ कहते हैं कि उक्रेन तथा दूसरे सोवियत प्रजातन्त्रों में - जिन्हें नाजियों ने बर्बाद कर दिया था - रोगों से बचाव और इलाज की अत्यन्त सफल और सार्वजनिक व्यवस्था कर दी गयी। हमने कितने ही अस्पतालों और शफ़ाख़ानों का दौरा किया। हम लोग गाँवों के छोटे-छोटे अस्पतालों में भी गये। शहरों के बड़े स्वास्थ्य केन्द्रों को भी हमने देखा। इनमें एक भी अस्पताल ऐसा नहीं था जहाँ इन्द्रिय-रोगों को आम रोगों में गिना जाता हो। अक्सर डॉक्टरों ने यही कहा है कि सिफलिस और गिनोरिया के मरीज इतने गिने-चुने हैं कि इन रोगों को हम ख़त्म हुआ मानते हैं। उन्होंने बताया कि ये मरीज भी इस युद्ध की ही देन हैं। अगर नाजी आधिपत्य के दौर से न गुज़रना पड़ा होता तो हमारे अस्पतालों में सिफलिस और गिनोरिया के मरीज ढूँढ़ने पर भी मिलने मुश्किल हो जाते।

ब्रिटेन के प्रमुख डॉक्टरों के एक दल ने 1951 में सोवियत संघ का दौरा किया था। उन्होंने भी ऊपर कही बातों की पुष्टि की। सोवियत संघ में उन्होंने जो कुछ देखा, उसकी रिपोर्ट उन्होंने **ब्रिटिश मेडिकल जर्नल** में छापी। उन्होंने बताया कि सोवियत संघ से वेश्यावृत्ति नदारद हो गयी है। उन्होंने कहा, इन्द्रिय-रोगों के बारे में भी हालत यह है कि इन रोगों का कुछ ही दिनों में बिल्कुल सफाया हो जायेगा।

जीव हत्या : मगर गुपचुप

सामाजिक प्रगति के रूप में व्यभिचार और बीमारी पर सोवियत रूस की विजय को एक गौरवपूर्ण, किन्तु अलग चीज़ समझना एकदम ग़लत होगा। निस्सन्देह, सोवियत रूस का प्रयत्न अत्यन्त सफल हुआ था। लेकिन जो कुछ ऊपर कहा जा चुका है वह तब तक निरर्थक होगा जब तक हम सोवियत नैतिकता के व्यापक ढाँचे के अन्तर्गत इन चीज़ों को नहीं देखते, यानी जब तक हम इन्हें "वैज्ञानिक आधार पर मानव जाति के सुधार" के ढाँचे के अन्तर्गत नहीं देखते। सोवियत रूस में सुधार का यह काम बड़े उत्साह से शुरू हुआ था।

हम देख चुके हैं कि क्रान्ति के कुछ ही दिनों बाद सोवियत महिलाओं को जो प्रश्न-पत्र दिया गया था, उसने वैज्ञानिकों और राजनीतिज्ञों, दोनों के ही सामने स्पष्ट कर दिया था कि व्यभिचार का बुनियादी कारण आर्थिक है। यह कारण – कंगाली और बेरोज़गारी। लेकिन, ये विशेषज्ञ भली-भाँति जानते थे कि बेरोज़गारी को हटाते ही संगठित व्यभिचार के ख़िलाफ़ संघर्ष अपने आप ही सफल नहीं हो जायेगा। 1929 के बाद सोवियत देश में बेरोज़गारी को ख़त्म कर दिया गया था। लेकिन ऊपर कही बात का उल्टा भी सच है, यानी यह कि यदि काम करने की इच्छुक हरेक महिला को स्थायी काम देने की आर्थिक योजना सफल न हुई होती तो संगठित व्यभिचार के ख़िलाफ़ संघर्ष भी असफल हो गया होता। ऐतिहासिक पंचसाला योजनाओं और उनके अन्तर्गत विशाल औद्योगिक उन्नति का परिणाम यही नहीं हुआ कि युद्ध में लाल सेना की विजयों की नींव पड़ी; उनसे प्रत्येक सोवियत नागरिक के जीवन पर भी गहरा असर पड़ा।

लेकिन, अब शायद कुछ लोग एक महत्वपूर्ण सवाल उठायें। जब वेश्याओं ने पेशा छोड़ कर ईमानदारी का काम अपना लिया तो सोवियत नैतिकता की क्या हालत हुई? अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाये तो : सोवियत रूस में पुरुषों और स्त्रियों तथा नवयुवकों के यौन सम्बन्धों की क्या दशा हुई? क्या व्यभिचार और इन्द्रिय-रोगों के ख़ात्मे से सम्मानप्राप्त नागरिकों की नैतिकता में ढील नहीं आयी?

हम इसको और भी स्पष्ट रूप में पेश कर सकते हैं। क्या वेश्याओं की अनैतिक कार्रवाइयों को सोवियत रूस की आम महिलाओं ने बन्धनरहित प्रेम के उसी सिद्धान्त – जिसका लेनिन और गोर्की ने बड़ी सख़्ती से विरोध किया था – के आधार पर नहीं अपना लिया?

नहीं; ऐसा कुछ नहीं हुआ। जो कुछ हुआ उसे साफ़-साफ़ शब्दों में बताया जा सकता है। वेश्यावृत्ति को तो ख़त्म कर ही दिया गया था, 'बन्धनरहित प्रेम' तथा अनुचित यौन सम्बन्ध जैसे वेश्यावृत्ति के दूसरे रूपों को भी ख़त्म कर दिया गया। इसी कारण प्रगति जारी रही। यह क्रान्तिकारी परिवर्तन ठीक उसी ढंग से हासिल किया गया जैसे कि वैज्ञानिकों ने अपनी भविष्यवाणियों द्वारा बताया था : सामाजिक-आर्थिक सुधार की योजनाओं द्वारा इन योजनाओं के फलस्वरूप ही बहुसंख्यक नागरिकों के लिए सम्भव हो सका कि प्रेम पर आधारित विवाह-सम्बन्ध के द्वारा वे अधिक से अधिक सन्तोष प्राप्त कर सकें।

एक ही साँस में यह कह डालना कि प्रेम और विवाह वैज्ञानिक और आर्थिक योजना पर आधारित हैं, बहुत से लोगों को मूर्खतापूर्ण मालूम होता है। इस समस्या से सम्बन्धित दार्शनिक तर्कों पर अध्याय के अध्याय लिखे जा सकते हैं। यह जानी-मानी बात है कि इस आकर्षक विषय पर बहस से सोवियत अख़बारों और पत्र-पत्रिकाओं के पन्ने के पन्ने रंग गये थे। इस बहस को दो एकदम विरोधी दृष्टिकोणों के रूप में पेश किया जा सकता है।

एक ओर ऐसे लोग थे जिनका कहना था कि मानव अनुभवों के कटु सत्यों को देखते हुए जहाँ तक इन्द्रिय-भोग का सवाल है, "मनुष्य के स्वभाव को सुधारना" असम्भव है। उनका कहना था कि वेश्यावृत्ति और व्यभिचार को ऊपरी तौर पर मिटा दिया तो भी पुरुष और स्त्रियाँ अनैतिक जीवन बिताना जारी रखेंगे।

दूसरी ओर वैज्ञानिक और राजनीतिक विशेषज्ञ थे जिनका दावा था, अब तक मानव जाति को इतिहास में कभी भी ऐसा व्यावहारिक मौक़ा मिला ही नहीं था जब मनुष्य सचमुच नैतिक जीवन बिता सके और प्रेम कर सके। उनकी माँग भी कि सोवियत शासन-व्यवस्था सोवियत रूस के 18 करोड़ नर-नारियों को इस तरह का जीवन बिताने का मौक़ा दे।

बहस में जीत बाद वालों की हुई। अपने तमाम महत्वपूर्ण सामाजिक प्रयोगों में सोवियत रूस ने सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग – **नैतिकता की योजना** – शुरू किया।

सोवियत रूस के उद्देश्य को बाहर की दुनिया ने 20 साल तक या तो समझा ही नहीं, या जानबूझकर समझने से इन्कार करती रही। इसका सबूत वह विरोधात्मक आन्दोलन था जो योजनापूर्ण नैतिकता की ओर पहला क़दम उठाते

ही उठ खड़ा हुआ था। दरअसल, पहली नज़र में तो यही मालूम पड़ता था कि यह कदम ठीक उल्टी दिशा में, यानी नैतिकता खत्म करने की दशा में, बड़ी भारी छलाँग है। एक सोवियत कानून के द्वारा भ्रूण-हत्या को कानूनी बना दिया गया और औरतों को इसका अधिकार दे दिया गया।

भ्रूण हत्या - जन्म से पहले ही नव शिशु की हत्या - सभ्य जगत के भौतिक और धार्मिक दोनों ही सिद्धान्तों के विरुद्ध है। सभी जगह भ्रूण-हत्या को उचित ही हत्या का अपराध माना जाता है - अजन्मे शिशु की हत्या, जिसके द्वारा माता और पिता मातृत्व और पितृत्व की ज़िम्मेदारियों से बच सकें। सोवियत रूस के आलोचक, और कितने ही मित्र भी, जिस बात को नहीं समझ सके वह यह थी कि : सोवियत राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिक यह मानते थे कि भ्रूण-हत्या एक तरह की हत्या है और नैतिकता के खिलाफ़ है, व्यक्ति के और राष्ट्र के हित के खिलाफ़ है।

तो फिर इस अनैतिक प्रथा को सोवियत रूप में कानूनी कैसे बना दिया गया?

उलझनों में डालने वाली सैद्धान्तिक बहस में पड़ने से कोई फ़ायदा नहीं होगा। भ्रूण-हत्या नामक सामाजिक समस्या में रहस्य की कोई बात नहीं - हालाँकि इसके पक्ष में और विपक्ष में हमारे देशों में अनगिनती वैज्ञानिक और धार्मिक लेख लिखे जा चुके हैं। सोवियत रूस में भ्रूण-हत्या को सामाजिक अपराध माना जाता है। वहाँ यह माना जाता था कि वेश्यावृत्ति की तरह उसकी भी जड़ें आम जनता की कंगाली में हैं।

यहाँ फिर हम साधारण तुलना के द्वारा तर्क-वितर्कों के झाड़-झंखाड़ को साफ़ कर सकते हैं। रूसी क्रान्ति के समय विश्व की दशा कैसी थी इसकी याद कीजिये। उन दिनों तमाम सभ्य देशों में - और रूस में भी - भ्रूण-हत्या के लिए कानून में कड़े दण्ड की व्यवस्था थी। लेकिन सभी देशों में भ्रूण-हत्या का ऐसा बोलबाला था जिसके बारे में सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। आमतौर से अजन्मे शिशु को पेट से निकाल बाहर करने का काम डॉक्टर नहीं, बल्कि ऐसे हत्यारे करते थे जिन्हें शायद ही कभी कानून के सामने लाया जाता हो। उदाहरण के लिए, जर्मनी के सरकारी आँकड़ों को देखिए। ये आँकड़े बताते हैं कि ग़ैर-कानूनी चीर-फाड़ से हर साल लगभग 10,000 औरतों की हत्या होती थी। इससे कई गुना ज़्यादा औरतें हमेशा के लिए जख्मी बन जाती थीं या सदा के लिए रोगिणी बन जाती थीं। यह संख्या भ्रूण-हत्याओं की पूरी संख्या का एक छोटा अंश भी नहीं थी। उत्तरी अमेरिका में, अधूरे आँकड़ों के आधार पर, अनुमान लगाया गया कि हर साल कितने ही लाख भ्रूण-हत्याएँ की जाती थीं। ज़ारशाही रूस में हर साल 25,000 औरतों की मौत भ्रूण-हत्या से होती थी।

यह हालत थी तब जब हर मुल्क में भ्रूण-हत्या के खिलाफ़ कड़े कानून मौजूद थे।

अब, आज की हालत पर नज़र डालिए। सोवियत रूस में इस प्रयोग के शुरू होने के 20 साल बाद, हरेक देश में - और सोवियत रूस में भी - भ्रूण-हत्या विरोधी कानून मौजूद हैं। अब भ्रूण-हत्या को सोवियत रूस में कानूनी मान्यता नहीं प्राप्त है। पिछले कुछ सालों में गर्भ-निवारण के उद्देश्य से चीर-फाड़ करना अपराध घोषित कर दिया गया है। 1944 में भ्रूण-हत्या के खिलाफ़ कानून और भी ज़्यादा कड़ा कर दिया गया।

तो क्या प्रयोग असफल हुआ था? नहीं; नतीजा असफलता का ठीक उल्टा हुआ था। वेश्यावृत्ति की तरह ही भ्रूण-हत्या का भी सोवियत रूस से नामो-निशान मिटा दिया गया।

लेकिन दूसरे तमाम देशों में बिना किसी डॉक्टरी सहायता के भ्रूण-हत्या के लिए चीर-फाड़ की संख्या - धार्मिक और कानूनी विरोध के बावजूद - बढ़ती जा रही है। परिणामस्वरूप, इन कारणों से मरने वालों और जख्मी होने वाली औरतों की संख्या भी बेशुमार बढ़ती जा रही है।

हमारे यहाँ हालत क्या है?

कितने ही डॉक्टरों ने हाल में छानबीन की। न्यूयार्क की चिकित्सा अकादमी की 'भ्रूण-हत्या सम्बन्धी समस्याओं की कॉन्फ्रेन्स' (जून 1942) में मनोवैज्ञानिक ए.ए. ब्रिल ने कहा :

"भ्रूण हत्या उन सामाजिक समस्याओं में से एक है जिन्हें सम्भवत: हल नहीं किया जा सकता। कारण यह कि हम इसके फिलेटिक प्रभावों के बारे में अधिक कुछ नहीं जानते।"

"फिलेटिक" का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है "वे परिवर्तन जो विकासक्रम के दौरान हुए हैं।"

बाद में अपनी रिपोर्ट में डॉक्टर ब्रिल ने और स्पष्ट रूप से बात कही है। उनका कहना है : "भ्रूण-हत्याएँ सांस्कृतिक दोषों की निशानी हैं। सारांश यह कि मनुष्य को अपना प्रतिरूप तैयार करने के लिए प्रकृति बाध्य करती है और सभ्यता अपने हितों को देखते हुए उसे रोकने का प्रयत्न करती है या किन्हीं खास हालात में ऐसा करने की इजाज़त देती है।"

डॉक्टर ब्रिल जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं उसे मानने से पहले इसे पढ़ना चाहिए : "आइए, हम भ्रूण-हत्या को समाप्त करें। उपाय यह है कि हर ईमानदार चिकित्सक गर्भपात के काम को यहाँ ज़रूरी समझे, खुद सम्हाले।"

नैतिकता का काम मोहल्ले-पड़ोस के हकीम को सौंप दिया जाये। महिलाएँ

और उनके अजन्मे शिशु जीवित रहेंगे या नहीं इसका फ़ैसला डॉक्टर की बैठक में हो! हर चिकित्सक न्यायाधीश और जल्लाद दोनों का काम सम्हाले।"

मनोवैज्ञानिक महोदय किस हद तक बेरोक भ्रूण-हत्या की वकालत कर रहे थे और किस हद तक वह असलियत को छिपा रहे थे?

अमेरिकन जर्नल ऑफ़ ऑब्सटेट्रिक्स एण्ड जिनेकोलोजी में डॉक्टर ओल्सन, लहमन, मितस और मिचेल ने हाल ही में भ्रूण-हत्याओं के सम्बन्ध में अधिकृत रिपोर्ट पेश की है। इस पत्र में उन्होंने उन तथ्यों को पेश किया जिन्हें न तो आम अख़बार और न हमारे स्वास्थ्य अधिकारी ही प्रकाश में लाने का साहस करते हैं। इन लोगों ने जिन बहुत-सी भ्रूण-हत्याओं का अध्ययन किया उनमें से लगभग तीस प्रतिशत ऐसी थीं जिन्हें स्थानीय चिकित्सकों ने खुद अपने हाथों से किया था। पैंतीस प्रतिशत से ज़्यादा हत्याएँ दाइयों के हाथों की करामात थीं। भ्रूण-हत्याओं के सम्बन्ध में जिन औरतों की चीरफाड़ हुई थी उनमें से, औसतन, सिर्फ़ आधी अविवाहित, परित्यक्त या विधवा थीं।

इन सुप्रसिद्ध डॉक्टरों का कहना है : "पिछले कई सालों में भ्रूण-हत्याओं की संख्या जिस तेज़ी से बढ़ी है उससे यही पता चलता है कि भ्रूण-हत्या की समस्या बढ़ती जा रही है।"

शायद वे असलियत को बढ़ा-चढ़ाकर पेश कर रहे हैं?

नहीं, उन्होंने आँकड़े पेश किये हैं। 1941 में अमेरिका में कम-से-कम 6,80,000 भ्रूण-हत्याएँ हुईं। बचाव के नये से नये उपायों के बावजूद, अमेरिका में हर साल इस तरह की चीरफाड़ों से 8,000 महिलाओं की मृत्यु होती है।

भ्रूण-हत्याओं की संख्या में बढ़ती का कारण इन डॉक्टरों ने किन्हीं रहस्यपूर्ण "फिलेटिक प्रभावों" को नहीं बताया। उनके अनुसार, इस बढ़ती के वास्तविक सामाजिक कारण ये हैं : "ग़ैर-क़ानूनी सन्तान होने पर शर्म का भूत सवार हो जाना, मातृत्व और पितृत्व की ज़िम्मेदारियों से जान बचाने की कोशिश करना, पिछले दस सालों के आर्थिक संकट से उत्पन्न ग़रीबी और दरिद्रता, परिवार को बढ़ने से रोक कर रहन-सहन के स्तर को बेहतर बनाने की कोशिश करना... आमतौर से आदर्शवाद के स्थान पर एक दूसरी दार्शनिकता का उपस्थित होना जो विशेषत: पहले महायुद्ध के बाद व्यक्त हुई।"

उन्होंने इस समस्या को "फ़ौरी महत्व" की समस्या बताया है। इससे इन्कार कौन करता है? अमेरिका में प्रति वर्ष 6 लाख 80 हज़ार अजन्मे शिशुओं की हत्या होती है। इस पुस्तक को पढ़ने में आपके जो क्षण बीत रहे हैं, उनमें से हर एक क्षण में इस प्रायद्वीप पर कहीं न कहीं अजन्मे शिशु की हत्या हो रही है।

दूसरे "जनवादी" देशों में भी आँकड़े कुछ इसी प्रकार के हैं – कहीं ज़्यादा, कहीं ज़रा कम। एक ओर हमारे अनैतिक समाज में इस नैतिक युद्ध के परिणामस्वरूप लाखों लाख शिशुओं की जीव हत्या हो रही है, दूसरी ओर लोग अन्धकार में हैं। संगठित मज़दूर वर्ग को ख़ामोश रखा जाता है, चिकित्सा और क़ानून के पण्डित सच्चाई को छिपाते हैं और धर्म के ठेकेदार मौन धारण किये हैं।

और ए.ए. ब्रिल जैसे डॉक्टरों का तुर्रा यह है कि "सम्भवत: भ्रूण-हत्याओं की समस्या नहीं सुलझायी जा सकती, क्योंकि विकासक्रम में होने वाले परिवर्तनों का हमें समुचित ज्ञान नहीं है।"

ऐसे लोगों को एक बार सोवियत रूस जाना चाहिए। वहाँ, मालूम होता है, "फिलैटिक प्रभावों" और "सांस्कृतिक दोषों' के मामले में विज्ञान ने ज़बरदस्त उन्नति की है। हम देखें कि यह उन्नति है क्या।

क्रान्ति के कुछ ही दिनों बाद, सोवियत वैज्ञानिकों ने, जो भ्रूण-हत्या की समस्या के फ़ौरी महत्व से परिचित थे, सोवियत रूस के अधिकारियों को बताया कि न तो निरोधात्मक क़ानूनों के ही द्वारा और न तमाम डॉक्टरों का मनमाने तौर पर हत्या करने की छूट देकर ही भ्रूण-हत्याओं को रोका जा सकता है। उनका दावा था कि भ्रूण-हत्या की जड़ आर्थिक और नैतिक समस्या में है। उनका कहना था : खुले आम ही इसे ख़त्म किया जा सकता है, अर्थात तब जब सारा राष्ट्र इसके कारणों को दूर करने में संघर्ष में जुट जाये और एक विराट पैमाने पर नैतिक शक्तियों का सुचारु रूप से संगठन किया जाये।

उन्होंने कुछ अरसे के लिए भ्रूण-हत्या को क़ानूनी घोषित कर दिया। इस क़ानून पर समाज का कड़ा नियन्त्रण था। **इस क़ानून का उद्देश्य था, भ्रूण-हत्याओं को ख़त्म करना।**

बात अन्तरविरोधी मालूम होती है। पर यह साधारण सूझबूझ की बात थी। इस क़ानून के परिणामस्वरूप रूस में जो कुछ हुआ वह यह है :

विशेष चिकित्सालय क़ायम किये गये। इनमें न सिर्फ़ चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ थीं, बल्कि सलाह-मशविरे के बोर्ड भी क़ायम किये गये थे। गर्भवती महिलाएँ और लड़कियाँ, जो शिशु को जन्म नहीं देना चाहती थीं, इन चिकित्सालयों में सलाह-मशविरे के लिए बुलायी जाती थीं। सोवियत-विरोधी विचारकों ने इन चिकित्सालयों की बड़ी खिल्ली उड़ाने की कोशिश की। कुछ धर्म के ठेकेदार तो अब भी इन झूठी बातों में विश्वास करते हैं। किन्तु इन केन्द्रों का काम "अत्यन्त गुप्त रूप से" हत्या करवाना नहीं था। इनका मुख्य उद्देश्य था : चीरफाड़ करवाने से औरतों को रोकना।

उन शुरू के दिनों में जब सोवियत रूस में भयानक ग़रीबी और दरिद्रता फैली

हुई थी, सलाह-मशविरा देने वाले 100 में से 50 औरतों को यह समझाने में सफल होते कि उनका माताएँ बन जाना अच्छा होगा।

इसका सीधा-सादा और खुलासा मतलब यह है कि सलाह-मशविरे की प्रणाली शुरू करते ही रूस में गर्भ-हत्याओं की संख्या आधी हो गयी। इस बात को समझने में दिक़्क़त की गुंजाइश नहीं। चीरफाड़ कराने को उत्सुक महिलाओं में से अधिकांश ऐसी होती हैं, जिनके दिल में दहशत समायी रहती है। शायद ही कभी कोई ऐसा ज़िम्मेदार और समझदार सलाहगीर मिलता है जिससे वे अच्छी राय ले सकें। गर्भपात के बारे में जितनी भी बातें उन्हें मालूम होती हैं, वे कभी किसी से और कभी किसी से सुनी हुई होती हैं। उनकी एक ही ख़्वाहिश होती है - गर्भवती मालूम पड़ने से पहले ही वे इस झगड़े से निपट जायें।

हमारे देश में ऐसी महिलाओं की संख्या कितनी है जो दूसरों से सलाह-मशविरे के बाद अपने इरादे को बदल दें - बशर्ते कि उन्हें मालूम हो जाये कि पकड़-धकड़ का कोई ख़तरा नहीं, कि शिशु के जन्म के बाद भी उन्हें नौकरी मिल जायेगी?

रूस में, ठीक-ठीक कहा जाये तो, 51 प्रतिशत औरतों ने अपने इरादों को बदल दिया। जो बाक़ी बचीं उन्हें चीरफाड़ कराने की इजाज़त दे दी गयी। क्यों? इसलिए कि अगर उन्हें इजाज़त न दी गयी होती तो वे खूसट दाइयों के पास पहुँचतीं और मनमाना करातीं। लेकिन उनका ऑपरेशन बड़े ही चतुर चिकित्सक अच्छे से अच्छे औजारों से करते थे। इससे साबित हो जाता कि गर्भवती स्त्री का ऑपरेशन कुशल चिकित्सकों द्वारा किया जाना ख़तरनाक नहीं है। इसी वजह से सोवियत रूस में इन कारणों से मरने वालों की संख्या केवल नहीं के बराबर रह गयी। ग़ैर-क़ानूनी ढंग के ऑपरेशनों या अधकचरे चिकित्सकों के ऑपरेशनों के परिणामस्वरूप मरने वालों की संख्या पहले बेहद थी। सोवियत चिकित्सकों ने अन्दाज़ा लगाया कि बारह साल में उन्होंने कम-से-कम तीन लाख औरतों की जान बचायी होगी। इस अरसे में इनी-गिनी औरतों की ही - ग़ैर-क़ानूनी भ्रूण-हत्याओं से - मृत्यु हुई। गर्भवती स्त्रियों की देखभाल का राज्य की ओर से मुफ़्त और अच्छा प्रबन्ध था इसलिए ग़ैर-क़ानूनी भ्रूण-हत्याओं के लिए रुपया ख़र्च करना और मौत का ख़तरा उठाना बेज़रूरी हो गया। एक ओर राज्य की ओर से जहाँ यह क़ानून बना कि उचित चिकित्सालयों में गर्भपात करवाना क़ानूनी है, वहीं दूसरी तरफ़ एक क़ानून पास करके दूसरे लोगों से भ्रूण-हत्या कराने के लिए कड़े से कड़े दण्ड की व्यवस्था की गयी।

इस दौरान आन्दोलन ने एक नयी दिशा पकड़ ली। सवाल था, औरतें क्यों ऑपरेशन करवाना चाहती हैं? क्या इसलिए कि उन पर सुधार का कोई असर नहीं

हो सकता? ऐसा कहना हास्यास्पद है। वे ऑपरेशन की माँग इसीलिए करती हैं कि ज़्यादातर महिलाएँ शिशु का लालन-पालन करने की स्थिति में नहीं होतीं। लाखों-करोड़ों औरतों से पूछताछ कर चुकने के बाद सोवियत वैज्ञानिक इस अकाट्य निष्कर्ष पर पहुँचे कि मौजूदा समाज में मातृत्व की बड़ी प्रशंसा की जाती है, उसे बड़े सम्मान की बात बताया जाता है - पर केवल सिद्धान्त रूप में। अमल में बहुसंख्यक औरतों के लिए यह भारी अपराध-सा बन जाता है।

गर्भवती स्त्री नौकरी से हाथ धो बैठती है। अविवाहित बालिका के लिए गर्भवती हो जाना बड़ा भारी अभिशाप बन जाता है। ज़्यादातर औरतों की पारिवारिक हालत यह होती है कि नया बच्चा जन्मा नहीं कि उन पर, उनके पतियों पर और उनके दूसरे बच्चों पर आर्थिक कठिनाइयों का बोझ बढ़ जाता है। बच्चा होने से पहले जच्चा की अच्छी तरह देखभाल न हुई या उसकी ठीक से चिकित्सा न हुई तो वह सदा के लिए बीमारियों का शिकार बन जाती है।

सोवियत रूस में इस स्थिति का अन्त करने के लिए क्रान्तिकारी क़दम उठाये गये। मातृत्व की पूजा सिद्धान्त की ही चीज़ नहीं रह गयी। उसे अमली रूप दिया गया।

सामाजिक और चिकित्सा सम्बन्धी विशेषज्ञों ने सोवियत रूस में उठाये गये क़दमों का कई पुस्तकों में विस्तार से ब्योरा दिया है। संक्षेप में, वहाँ ऐसे क़ानून और नियम बनाये गये जिनसे हरेक महिला की - चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित - गर्भवती होने की अवस्था में मुफ़्त डॉक्टरी देखभाल की गारण्टी हो। उसके लिए, पूरी तनख़्वाह के साथ छः से बारह हफ़्ते की छुट्टी की व्यवस्था की गयी। स्वस्थ होने पर वह महिला फिर अपने काम पर वापस आ सकती थी। जहाँ भी माँ काम करती हो वहीं दो महीने से पाँच साल तक की उम्र के बच्चों की देखभाल का प्रबन्ध किया गया। दूध पीते बच्चों की माताओं को दूध पिलाने के लिए दिन में काम पर से कई घण्टों की छुट्टी दी जाने की व्यवस्था की गयी। शिशु को अच्छी तरह रखने के लिए रुपयो-पैसों और कपड़ों की मदद का इन्तज़ाम किया गया।

इन सब बातों के साथ-साथ शिक्षा का ज़ोर-शोर से प्रचार शुरू किया गया। शिक्षा का उद्देश्य नागरिकों के दिल में यह बैठाना था कि मातृत्व के ख़िलाफ़ सामाजिक-आर्थिक दण्डों को समाप्त किया जा रहा है; प्रचार का उद्देश्य उनको यह समझाना था कि अब हर महिला मातृत्व की ऊँची नैतिक ज़िम्मेदारी को पूरा कर सकेगी, कि अब वह माता बनने के साथ-साथ नये समाज की सक्रिय नागरिक होने का गौरव भी क़ायम रख सकेगी।

नैतिकता में यह एक नया प्रयोग था। यह मानव स्वभाव को सुधारने का प्रयोग

था। यह प्रयोग उस देश में शुरू हुआ था जहाँ हर साल मरने वाले शिशुओं की संख्या बेशुमार थी, लगभग उतनी ही जितनी आजकल क्वेबेक और भारत में है। किन्तु, अब रूस में प्रतिवर्ष मरने वाले शिशुओं और माताओं की संख्या दुनिया में सबसे कम है। सोवियत रूस में हर साल लगभग साठ लाख शिशु जन्म लेते हैं। इनमें अविवाहित माताओं से जन्म लेने वाले शिशुओं की संख्या नहीं के बराबर है। भ्रूण-हत्याओं को क़ानूनी तौर पर तो बन्द कर ही दिया गया है, महत्व की बात यह है कि भ्रूण-हत्याएँ सचमुच बन्द हो गयी हैं।

इस ऐतिहासिक प्रयोग ने यौन आचार सम्बन्धी नैतिकता की नयी विचारधारा सृजित करने में कौन सी भूमिका अदा की? अब हम यही देखेंगे। इसका सम्बन्ध विवाह और परिवार से है।

मातृत्व के आड़े आने वाली आर्थिक कठिनाइयों को हटा देने से नैतिकता पर जो असर पड़ा वह फ़ौरी था और आसानी से समझ में आने वाला था। वेश्यावृत्ति की जड़ें सारे राष्ट्र से ख़त्म की जा रही थीं। इसी काल में मातृत्व सम्बन्धी नये नियम बने। इन नियमों ने औरतों के शोषण के भिन्न-भिन्न रूपों को ख़त्म करने के संघर्ष को सफलता की मंज़िल पर पहुँचा दिया। स्त्रियों को समानाधिकार एक ठोस सत्य बन गया। फलस्वरूप विवाहों की संख्या में एकाएक बढ़ती हुई। विवाह के ख़िलाफ़ आर्थिक प्रतिबन्ध लापता हो गये। पहली बार यह सच्चाई सामने आयी कि "दो इंसान उतने ही खर्चे में गुज़र-बसर कर सकते हैं जितने में एक।" नये से नये प्रेमियों ने भी यह देखा कि विवाह कर लेना और बाल-बच्चों के साथ ज़िन्दगी बिताना सुगम भी है और अच्छा भी। विद्यार्थियों तक को तनख़्वाहें मिलती थीं। दूसरे मेहनतकशों की तरह उनको भी सामाजिक सुरक्षा हासिल थी। नयी पीढ़ी पर इसका बड़ा अच्छा असर पड़ा। अध-बूढ़े हो जाने पर ब्याह के लिए हाथ-पैर मारने का ख़तरा जाता रहा। नवयुवकों को जीवन निर्माण के सबसे महत्वपूर्ण काल में विवाहित प्रेम और पितृत्व का वह बहुमूल्य अनुभव मिला जो बहुत ही सन्तोषजनक था। इस प्रयोग का जो परिणाम हुआ उससे सोवियत वैज्ञानिकों की यह बात सच्ची साबित हुई कि अनैतिकता और यौन व्यभिचार "मनुष्य की तामसिक प्रवृत्ति" में जमे हुए नहीं हैं। यह सत्य साबित हुआ कि नैतिक और स्वस्थ जीवन के बदले ये बड़ी खोटी चीज़ें हैं। उनका कहना था कि अनैतिक सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था व्यभिचार को लोगों पर लादती है और विवाह तथा मातृत्व-पितृत्व को एक बोझ बना देती है। स्त्रियों और पुरुषों, दोनों पर ही, यह बात लागू होती थी। सोवियत रूस में 20 सालों के भीतर ही औरतों और पुरुषों की नैतिकता के मापदण्डों का अन्तर ग़ायब हो गया। पुरुषों की समझ में आ गया कि विवाह और मातृत्व के रास्ते की

रुकावटों के दूर होने तथा महिलाओं की पूर्ण आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता के साथ ही उनकी भी अनैतिक प्रभावों से मुक्ति हो रही है।

सोवियत रूस में तलाक़ सम्बन्धी क़ानून भी इसी प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग थे। जिन क़ानूनों का हमारे देशों में इतने ज़ोर-शोर से विरोध किया जाता है, उनका उद्देश्य सोवियत रूस में ठीक उसका उल्टा था जो इन क़ानूनों के विदेशी आलोचक बताते हैं।

सोवियत रूस में तलाक़ का उद्देश्य, वास्तव में, विवाह और परिवार को मज़बूत बनाना था। यह नीति प्रेम और विवाह के उस ऐतिहासिक विश्लेषण पर आधारित थी जिसका हम पहले ब्योरा दे चुके हैं। जैसा कि सभी जानते हैं, शुरू-शुरू में सोवियत रूस में तलाक़ सम्बन्धी नियम बहुत ही नरम थे : विवाहित पक्षों में से एक पक्ष रजिस्ट्रेशन दफ़्तर के द्वारा दूसरे पक्ष को सूचना दे दे कि विवाह-सम्बन्ध ख़त्म हो गया है; बस, इसके सिवा और कोई अदालती कार्रवाई नहीं होती थी। यदि कोई बच्चा मौजूद हुआ तो उसकी देखभाल का प्रबन्ध कर दिया जाता था। और इस काम में लगभग उतना ही ख़र्चा होता था, जितना किसी नाटकघर में घुसने के लिए टिकट में। प्रेम पर आधारित न होने वाले विवाह-सम्बन्धों को भंग करने के लिए तलाक़ को एक नैतिक अधिकार मानते हुए सोवियत क़ानून-निर्माताओं ने इस तर्क को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। उन्होंने प्रेम को ही विवाह का एकमात्र आधार घोषित किया। उन्होंने तमाम कठिनाइयों को रास्ते से हटा दिया। तलाक़ के रास्ते में जो भी क़ानूनी और आर्थिक कठिनाइयाँ थीं, उन्हें दूर कर दिया। इस तर्क के नीचे एक गहरी सच्चाई छिपी हुई थी। वे जानते थे कि विवाहित सम्बन्धों से अलग जब स्त्री या पुरुष यौन सम्बन्धों में बँधने की कोशिश करते हैं, तो इसका मतलब यह होता है कि उनका विवाह-सम्बन्ध प्रेम पर आधारित नहीं है। अनैतिक यौन सम्बन्धों के सबसे भोंड़े रूप व्यभिचार और वेश्यावृत्ति होते हैं।

कहने का तात्पर्य यह कि सोवियत रूस में तलाक़ को प्रेम-रहित विवाहों को रोकने – यानी अनैतिक विवाहों को रोकने – का उपाय बनाया गया। ज़ारशाही ज़माने की ही वसीयत ये अनैतिक विवाह थे। बेरोक तलाक़ ने इन्हें ख़त्म करने का किया। बेरोक तलाक़ ने प्रेम पर आधारित विवाह-सम्बन्धों को बढ़ावा दिया।

ज़ाहिर है कि इस तर्क की अपनी गम्भीर सीमाएँ हैं। और बहुत से लोग इसकी धज्जियाँ उड़ाने पर तुल जायेंगे। वजह यह कि हम आसानी से अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि सरल तलाक़ क़ानूनों को हमारे देश में एकाएक और पूरी तरह लागू कर दिया गया तो कौन-सा नज़ारा देखने में आयेगा। नज़ारा यह देखने में आयेगा कि कुछ अरसे के लिए तो विवाह-प्रथा की जड़ें ही खोद डाली जायेंगी। कारण,

यह एक कटु सत्य है कि हमारे देशों में अभी भी बहुत से विवाह-सम्बन्ध क़ायम हैं तो सिर्फ़ इसलिए कि तलाक़ लेने में तमाम क़ानूनी और आर्थिक कठिनाइयाँ आड़े आती हैं।

रूस में क्रान्ति के बाद कई बरसों तक यही हुआ भी। पर, पिछले दस वर्षों में सोवियत रूस में तलाक़ की दर बहुत तेज़ी से कम हुई है। अब ज़रा दूसरे देशों से मुक़ाबला कीजिए : तलाक़ों की संख्या में दूसरे देशों में बेहद बढ़ती हुई है। तलाक़ के क़ानूनों की सख़्ती कम करने का दबाव बढ़ रहा है। इससे तलाक़ों की बढ़ती में और भी मदद मिली है। और यह तब जब पादरी और पुरोहित तलाक़ों का विरोध करने में एड़ी-चोटी का पसीना एक किये दे रहे हैं। सोवियत रूस में आज तलाक़ के हामियों की संख्या उतनी नहीं है जितनी पहले थी। विवाह प्रथा ने और ज़्यादा मज़बूती पकड़ी है। इसका कारण एक नयी सामाजिक नैतिकता का बल है। इस नैतिकता का एक लक्षण यह है कि जो लोग बार-बार ब्याह करने के लिए दौड़ते हैं, उन्हें बहुतों की खरी-खोटी सुननी पड़ती है। प्रेम की नैतिकता पर वहाँ भारी ज़ोर दिया जाता है। वहाँ सच्चे प्रेम की स्थिरता पर ज़ोर दिया जाता है। ज़ोर इस शारीरिक-मानसिक तथ्य पर दिया जाता है कि अपने उच्चतम रूप में यौन-सम्बन्ध "ख़ासतौर से दो व्यक्तियों के लिए" होता है। यह सम्बन्ध परस्पर प्रेम पर आधारित वैवाहित जीवन में ही अपने उच्चतम निखार पर पहुँच सकता है - तब और भी जब घर बच्चों से गुलजार हो।

1944 की गर्मियों में मास्को में विवाह और मातृत्व सम्बन्धी कुछ क़ानून पास किये गये। इन क़ानूनों के सम्बन्ध में दुनिया के दूसरे जनवादी देशों में पिछले कुछ दिनों से बहुत दिलचस्पी बढ़ गयी है। इन नये क़ानूनों की कितने ही लोगों ने विवेचना की है। सोवियत रूस के कुछ "मित्रों" को यह जानकर चिन्ता बहुत बढ़ गयी कि अब वहाँ तलाक़ लिफ़ाफ़ा-पोस्टकार्ड की तरह नहीं 'ख़रीदा' जा सकता। लेकिन ज़्यादातर विवेचनाओं में सन्तोष ही ज़ाहिर किया गया है। विरोधी विवेचनाओं के लेखकों ने स्तालिन की ओर उँगली उठाते हुए हमें सूचित किया है, "रूस में भी ज़िन्दगी का ढर्रा अब हमारी ज़िन्दगी जैसा हो रहा है।"

है न धूर्तता!

वेश्यावृत्ति और व्यभिचार की हमारे देशों में बढ़ती हो रही है। यौन-रोगों की रोकथाम की कोशिशें असफल हो रही हैं। शराबख़ोरी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही है। भ्रूण-हत्याओं की दर बढ़ती जा रही है। तलाक़ों में भी इस तरह बढ़ती जारी है ... उस पर इन विवेचकों का तुर्रा तो देखिए। कहते हैं, रूस में भी अब हमारी जैसी हालत हो रही है! मतलब यह है कि रूसी भी अनैतिकता में हमारी नक़ल कर रहे हैं!!

सच्ची बात यह है कि सोवियत रूस के ये विवाह, मातृत्व, तलाक़ और गर्भपात सम्बन्धी तमाम क़ानून नैतिकता की उसी वैज्ञानिक प्रगति का और अधिक विकास हैं जिसका वर्णन हम इस पुस्तक में करते आये हैं।

विवाह सोवियत रूस में प्रेम की नैतिक शिला पर बड़ी मज़बूती से आधारित हो गया है। सोवियत रूस में कुछ सालों पहले गर्भपात के ख़िलाफ़ क़ानून फिर जारी कर दिये गये थे, **लेकिन तब जब भ्रूण-हत्याओं की पूरी रोकथाम कर ली गयी थी।** उसी तरह अब तलाक़ क़ानूनों को सख़्त करना सम्भव और ज़रूरी हो गया है क्योंकि मुफ़्त और आसान तलाक़ की जो पहले ज़रूरत थी, वह अब नहीं रही। इसका पहला कारण यह है कि विवाहों की असफलता के आर्थिक, नैतिक और सामाजिक कारणों को दूर कर दिया गया है; दूसरा यह कि इस स्थिति की देश के विधान में, खुल्लमखुल्ला मान्यता की ज़रूरत है। ये ही हैं वे साधारण और तार्किक कारण जिनकी वजह से अपने तलाक़ क़ानूनों में सोवियत रूस ने रद्दोबदल की है। उन्होंने शुरू-शुरू में तलाक़ क़ानूनों की सख़्ती को कम नहीं किया था, क्योंकि जैसा हमें बताया गया था, समाजवाद का यही तक़ाज़ा था। ये क़ानून अस्थायी क़ानून थे। और इनका उद्देश्य था तलाक़ों को उठा देने या तलाक़ों की संख्या को बेहद कम कर देने के लिए रास्ता तैयार करना।

18 दिसम्बर 1917 को सोवियत अधिकारियों ने दो ऐसे क़ानून पास किये, जिनको लेकर दुनिया में बड़ी हाय-तौबा मच गयीं। ये क़ानून थे : पहला, सिविल मैरिजों, बच्चों और सन्तान के रजिस्ट्रेशन, विवाहों और मौत सम्बन्धी क़ानून; दूसरा, विवाह और तलाक़ सम्बन्धी क़ानून। इन क्रान्तिकारी क़ानूनों का बड़े ज़ोर-शोर से विरोध किया गया। इनके विरोध में लम्बे-लम्बे लेख लिये गये और लच्छेदार सदुपदेश दिये गये। अब, जबकि नयी घटनाओं और नये क़ानूनों ने इन दोनों ऐतिहासिक क़ानूनों को बहुत पीछे छोड़ दिया है, यह जानकर सचमुच ताज्जुब होता है कि लोगों की इनके बारे में जानकारी कितनी कम है।

यहाँ क्षण-भर रुककर हम कुछ तथ्यों की छानबीन करेंगे। ये तथ्य सोवियत संघ की सुप्रसिद्ध महिला वकील जेनिया बेलोसोवा से हमें मिले थे। जहाँ तक तथ्यों पर विश्वास करने या न करने की बात है, जागरूक पाठक अपनी समझदारी से काम लेंगे।

बेलोसोवा कहती हैं : "सोवियत रूस के पहले-पहल के विवाह क़ानूनों का महत्व इस बात में है कि इन्होंने औरतों को क़ानूनी स्वतन्त्रता दी। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिये। इन अधिकारों को इन क़ानूनों ने असमानता के अन्तिम गढ़ - परिवार - तक पहुँचाया। परिवारों में युगों पुराने रीति-रिवाज़ और

तौर-तरीके महिलाओं की दासता को एक साधारण-सी बात बनाये हुए थे। यह दासता एक स्वाभाविक चीज़ मानी जाती थी। परिवारों में महिला की दासता को बहुधा खानदान की इज़्ज़त के नाम पर उससे छिपाया जाता था।"

1917 में पास किये गये विवाह-क़ानून ज़ारशाही के विवाह-सम्बन्धों को नये सोवियत राज्य के लिए उचित नहीं ठहरा सकते थे। अन्य कारणों के अलावा एक सीधा-सादा कारण यह भी था कि ज़ारशाही रूस में विवाह-सम्बन्ध ऐसी परिस्थितियों में होते थे, जब विवाह जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर स्वतन्त्र रूप से अपना मत प्रकट करने की अधिकांश महिलाओं को न तो छूट थी, न आज़ादी थी, न इसकी कोई गुंजाइश ही। सोवियत सिद्धान्त परिवार के उन आधारों को सही नहीं ठहराते थे जो ज़ारशाही रूस की विरासत थे। और कारणों के अलावा, एक सीधा-सादा कारण यही था कि क्रान्ति से पहले के तमाम विवाह-सम्बन्ध सच्चे प्रेम और एक-दूसरे की इज़्ज़त की भावना पर आधारित नहीं थे; उल्टे, वे आधारित थे इन विचारों पर कि फलाँ से विवाह करने पर कितनी रक़म हाथ आयेगी, किस-किस रिश्तेदार को क्या-क्या मिलेगा, आदि।"

"अक्टूबर क्रान्ति का लक्ष्य था मनुष्य और मनुष्य की असमानता और शोषण को ख़त्म करना। अस्तु, परिवार जैसा मानव-सम्बन्धों का महत्वपूर्ण क्षेत्र अछूता नहीं रह सकता था। दिसम्बर 1917 के सोवियत विवाह-क़ानूनों ने परिवार के लिए एक नया सिद्धान्त क़ायम किया – अपने मनपसन्द साथी के साथ परिवार की नींव डालने का सिद्धान्त। इन क़ानूनों ने साफ़ ज़ाहिर कर दिया कि सोवियत परिवार अब एक-दूसरे के प्रति प्रेम, एक-दूसरे की इज़्ज़त तथा पुरुष और स्त्री की समानता पर आधारित होंगे।"

"साथ ही, प्रथम सोवियत क़ानून को तलाक़ सम्बन्धी रुकावटों को सदा के लिए दूर करना था। ज़ारशाही रूस में पादरियों के हस्तक्षेप से ही तलाक़ मिलता था। लेकिन तब भी ऊपर बताये गये तमाम बन्धन जारी रहते थे।"

जिन बन्धनों का ज़िक्र इस सोवियत महिला ने किया है, वे तमाम रूस से बाहर बहुसंख्यक देशों में आज भी जारी हैं। संक्षेप में, हमारे तमाम क़ानूनों की तरह ज़ारशाही तलाक़ क़ानून की माँग थी कि इस बात के गवाह पेश किये जायें कि पुरुष या स्त्री ने व्यभिचार किया है। बेलोसोवा ने तोल्सतोय के उपन्यास **अन्ना कारेनिना** और **दि लिविंग कौर्प्स (जीवित शव)** के उदाहरण देकर बताया कि किस तरह "क़ानून की कुल्हाड़ी ने भावनाओं को कुचलकर रख दिया था।"

1917 के तलाक़ क़ानून का कहना है : "विवाह बन्धन में बँधे हुए एक या दोनों पक्षों की माँग पर विवाह रद्द कर दिया जा सकता है" (पैराग्राफ़ 1)। दूसरी

धारा भी इतनी भी महत्वपूर्ण है। उसमें कहा गया है कि रजिस्ट्रार दफ़्तर में दरख़ास्त देकर विवाह को रद्द किया जा सकता है (यानी तलाक़ हासिल किया जा सकता है)। इस धारा के मुताबिक़ अदालत में जाने की ज़रूरत नहीं।

जेनिया बेलोसोवा कहती हैं : "निस्सन्देह, समाज के नैतिक रूप से ढुलमुल इंसानों ने क़ानून के इस पहलू का ग़लत फ़ायदा उठाया। और, हालाँकि तथाकथित बन्धनरहित प्रेम के कुछ समर्थकों ने सोवियत विवाह क़ानूनों के जनवादी सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़कर यह साबित कर डालने की कोशिश की कि पारिवारिक जीवन एक निरर्थक चीज़ है – उससे व्यक्तिगत स्वाधीनता में बेड़ियाँ पड़ जाती हैं – फिर भी 1917 का नया क़ानून बहुत ही ज़रूरी था। उसने सामाजिक जीवन पर गहरा असर डाला।"

"इस क़ानून ने इस बात की सम्भावना सदा के लिए ख़त्म कर दी कि विवाह को औरतों को ग़ुलाम बनाने और परिवार में असमानता क़ायम करने का साधन बनाया जाये।"

हम उन अमली उपायों का ज़िक्र पहले ही कर चुके हैं जिनके ज़रिये सोवियत महिला को आर्थिक और सामाजिक स्वतन्त्रता का हक़दार बनाया गया। बेलोसोवा ने उदाहरण देकर बताया है कि सोवियत रूस में महिला विद्यार्थियों की संख्या आज कितनी बढ़ी-चढ़ी है। दूसरे धन्धों में भी स्त्रियाँ बड़ी संख्या में लगी हुई हैं। बेलोसोवा ने यह भी बताया है कि ट्रांसकॉकेशस तथा मध्य एशिया के जनतन्त्रों पर शुरू-शुरू के तलाक़ क़ानूनों ने बहुत ज़बरदस्त असर डाला।

"अब तो औरतें जन-कमिसार तक के पद पर विराजमान हैं। औरतें सामूहिक खेतों की अध्यक्षा हैं। यह हालत वहाँ की है, जहाँ कुछ साल पहले मर्द अपनी औरतों का क़त्ल सिर्फ़ इस बात पर कर डालने को तैयार रहते थे कि औरतें हर वक़्त चेहरे पर बुर्क़ा डाले रखने से इन्कार करती हैं।"

सोवियत शासन के प्रारम्भिक दिनों में जीवन की कठिनाइयाँ बेशुमार थीं। बेलोसोवा कहती हैं, "इन परिस्थितियों में सोवियत महिला के सामने दो ही रास्ते थे : या तो चूल्हे-चक्की की ज़िन्दगी में जा गिरे या ज्ञान प्राप्त करने और किसी कौशल को सीखने की कोशिश करके आगे बढ़े, अपने देश के लिए उपयोगी नागरिक बने और प्रगतिशील विचारों के लिए अपने संघर्ष को जारी रखे। यह एक ऐसा संघर्ष था जो किसी व्यक्ति विशेष के हित में नहीं बल्कि समूची मानव जाति के हित में था... इसी एक रास्ते पर चलकर वह पुरुष की सच्ची सहयोगी और मित्र बन सकती थी।...स्त्री ने परिवार में नया सम्मानपूर्ण स्थान, समाज में नया सम्मानपूर्ण स्थान जीतने के साथ ही जीता।"

स्पष्ट है कि कोई भी क़ानून – वह कितना ही क्रान्तिकारी क्यों न हो – पास

कर देने से ही सामाजिक सम्बन्ध नहीं बदल जाते। सोवियत महिलाओं को पता लगते देर न लगी कि उन्हें जो नये अधिकार मिले हैं उन्हें जीवन की समस्याएँ कोसों दूर ठेले रहती हैं। युगों पुरानी आदतों और रीति-रिवाज़ों के वशीभूत बहुसंख्यक लोग यही समझते कि विवाह के बारे में पुरानी धारणाएँ उचित और लाभदायक थीं। नये क़ानूनों ने महिलाओं की सामाजिक और नैतिक उन्नति का रास्ता तो साफ़ कर दिया था, लेकिन इस उन्नति तक सचमुच पहुँचने की इच्छुक महिलाओं को बहुत ज़बरदस्त संघर्ष करना पड़ा। दादियों और नानियों ने उनका पूरी ताक़त से विरोध किया। उनका विरोध ऐसे पुरुषों ने भी किया जो महिलाओं की स्वाधीनता के कट्टर विरोधी थे और उसे असम्भव बनाने पर कमर कसे हुए थे।

सोवियत महिलाओं का क्या हश्र हुआ? बेलोसोवा की इस विषय में टिप्पणियाँ बहुत ही दिलचस्प हैं। शुरू-शुरू के सालों की हालत के बारे में वह कहती हैं : "स्त्री को अपनी कुव्वत पर पूरा भरोसा करना पड़ा। उसे तमाम कठिनाइयों से टक्कर लेने का दृढ़ संकल्प करना पड़ा। एक के बाद एक अड़चनों के पहाड़ उसे पार करने पड़े। इस दौरान स्त्रियों को मानसिक परेशानियाँ भी काफ़ी उठानी पड़ीं, क्योंकि सहारे के लिए उनके सामने कोई ऐतिहासिक मिसाल मौजूद नहीं थी।"

"नयी महिलाओं की अभी तक कोई मिसाल सामने नहीं आयी थी। ऐसी महिलाओं की मिसाल नहीं आयी थी जिनमें पुरुष के बराबर के दर्जे तक उठाने वाली व्यक्तिगत और सामाजिक स्वतन्त्रता की भावना मौजूद हो, साथ ही जिनमें स्त्री-सुलभ गुण-स्त्रियत्व, कोमलता और मातृत्व की नम्रता – भी मौजूद हों। मानव-इतिहास अब तक नारी-चरित्र के केवल एक अंग के विकास के दृष्टान्त पेश कर सका था। वह सर्वांगीण और सर्वमुखी विकास वाली महिला का उदाहरण न तो पेश कर सका था, न कर सकता था। अतीत नहीं, भविष्य ही उनके उदाहरण पेश करेगा।"

क़ानून के ज्ञान में दक्ष इस महिला ने नये क़ानूनों के शुरू के काल की बहुत सच्ची तस्वीर पेश की है – अर्थात उस सम्बन्ध में जिसे हमारे देशों में बहुत से लोग "रबड़ की मोहर वाली तलाक़" कहते हैं।

"नयी महिला की स्थिति निर्धारित करने के लिए सोवियत समाज को खुद ही खोजबीन में जुटना पड़ा। यह खोजबीन उसने हवाई सिद्धान्तों के आधार पर नहीं बल्कि जीवन के अनुभवों के आधार पर की थी। कभी-कभी स्त्री और पुरुष की पीड़ाओं के साथ-साथ ग़लतियाँ भी जुड़ी-मिली रहीं। परिवार में कलह और विद्वेष भी बढ़े। इन बातों ने इस समस्या को और गम्भीर बना दिया था।"

पाँच-साला योजनाओं के यशस्वी काल में ही बड़ा महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। दसियों हज़ार औरतों ने बड़ी तेज़ी से अपने आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाया। उन्होंने उद्योग-धन्धों में काम शुरू किया। विज्ञान, इंजीनियरी और कला-कौशल के कामों की तरफ़ उन्होंने हाथ बढ़ाया। लेकिन इसी दौरान उन्हें कुर्बानियाँ भी सबसे ज़्यादा करनी पड़ीं।

"एक सबसे बड़ी कुर्बानी", बेलोसोवा ने बताया है, "यह थी कि सोवियत महिला को अब अपने परिवार और बच्चों की तरफ़ ध्यान देने का वक़्त कम मिलता था। इन्हीं कारणों से उसे अपने पति की देखरेख और घर-गृहस्थी की देखभाल के लिए बहुत कम समय मिलता था। कहने की ज़रूरत नहीं कि अपने कपड़े-लत्ते सँभालने, बालों को सँवारने और वेश-भूषा को सँभालने का वक़्त निकालना उसके लिए असम्भव-सा हो गया था।"

पूछा जा सकता है कि 1930-39 में सोवियत रूस का दौरा करने वाले सोवियत जीवन-प्रणाली के कितने आलोचकों ने वहाँ की महिलाओं और नववधुओं की असुन्दता के कारणों को जानने की कोशिश की? पूछा जा सकता है : इन आलोचकों में से कौन है वह, जिसने जानने की कोशिश की कि सोवियत महिला ने बालों को सँवारना, नाख़ूनों को रँगना और नये-नये फ़ैशन के जूते पहनना इसलिए छोड़ दिया था कि वह "समूची मानव जाति के हित में संघर्ष" को जीतना चाहती थी।

जेनिया बेलोसोवा कहती हैं : "सोवियत महिला ने ज़िन्दगी की बहुत-सी ज़रूरतों को त्याग दिया। सज-धज के कपड़ों की स्त्री-सुलभ अभिलाषा में उसने ज़्यादा-से-ज़्यादा कमी की। अपने वक़्त को भी उसने ज़्यादा-से-ज़्यादा किफ़ायत से खर्च किया। इस तरह **उसने हज़ारों वर्षों की कमी को पूरा किया और सच्ची समानता के मार्ग पर ज़्यादा आगे बढ़ सकी।**"

आँखें फाड़-फाड़कर देख आने के बाद हमारे देशों के आलोचक सोवियत महिलाओं के बारे में यह थोथा विचार व्यक्त करते हैं कि "सोवियत महिलाओं को मालूम नहीं कि उन्होंने क्या खो दिया है!"

बेलोसोवा का जवाब है : "यह अच्छी तरह जान लिया जाना चाहिए कि हरेक सोवियत महिला को इन अस्थायी, पर ज़रूरी, कमियों के बारे में अच्छी तरह मालूम था। स्थायी पारिवारिक जीवन के प्रति उसकी लालसा कभी कम न हुई। मातृत्व के सुखद अनुभव, प्रेम की भावना, अपने पति की सच्ची सहयोगी बनने की भावना तथा जीवन और नारीत्व के सुखों के लिए उसकी लालसा में कभी भी कमी नहीं हुई।"

फिर भी कुछ अरसे तक एक दूसरी धारा भी बलवती रही। कुछ औरतें दूसरी

सीमा तक पहुँच गयीं। पुरुष से समानता हासिल करने का अर्थ उन्होंने यह लगाया कि पुरुष ही बन जाने की कोशिश की जाये। उन्होंने मर्दों के कपड़े पहनना और उन्हीं के तौर-तरीक़ों की नक़ल करना शुरू कर दिया। इन महिलाओं की सभी ने हँसी उड़ायी। क्रान्तिकारी युग के शुरू-शुरू के कठिन काल में इनके लिए एक ख़ास नाम चुन लिया गया था। उन्हें मज़ाक़ में "फ़ौजी कम्युनिज़्म के नमूने" कहा जाने लगा था। सम्भवतः, ये महिलाएँ समाज में सबसे निराली ही दिखायी पड़तीं – ख़ास तौर से विदेशी आगन्तुकों को। पर इन औरतों की संख्या बेहद कम थी।

पाँच-साला योजनाओं की सफलता के काल में रहन-सहन के पूरे स्तर में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। फलस्वरूप, महिलाओं की स्थिति में बुनियादी परिवर्तन हुआ। अब उनके सामने यह समस्या न रह गयी थी कि हम घर का काम सँभालें या नौकरी करें। अब उनके सामने समस्या न रह गयी कि हम घरेलू जीवन के सुखों की तरफ़ झुकें या जनहित का कोई सामाजिक कार्य सँभालें।

बेलोसोवा कहती हैं : "सोवियत महिला ने मजबूर कर दिया था कि आम लोग उसे इंजीनियर, उड़ाका, डॉक्टर, वैज्ञानिक, सामूहिक खेतों की अध्यक्षा और स्ताखानोवाइट कारीगर के रूप में स्वीकार करें। अब वह अपने और बच्चों के सुखी-जीवन का अच्छी तरह प्रबन्ध कर सकती थी। इस रूप में **परिवार में उसका भी वही स्थान हो गया जो पुरुष** का होता है और तब सोवियत परिवार के उन्नत होने का युग आरम्भ हुआ।"

इस नये युग की प्रमुख विशेषता बेलोसोवा वह बताती हैं :

"आज न तो रुपये-पैसे का सवाल, न क़ानूनी या वास्तविक असमानता ही किसी स्त्री को मजबूर कर सकती है कि वह इससे विवाह करे और उससे न करे। वह अब सोवियत समाज की सम्मान प्राप्त सदस्या है। अपना घर बसाने और पारिवारिक सुख का साज सजाने में वह किसी के अधीन या परवश नहीं है। वह पूरी तरह स्वाधीन और मुक्त है। औरत के प्रति पुरुष के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया है। औरत की तरफ़ नफ़रत और घृणा की भावना का तथा क़दम-क़दम पर अपना बड़प्पन जताने की चेष्टा का – जो पुराने रूस की विरासत थी – अब पूरी तरह लोप हो चुका है। एक नये ही आधार पर सोवियत पुरुषों और स्त्रियों के सुखी पारिवारिक जीवन का निर्माण हो रहा है।"

यदि स्त्री को दासता से मुक्त न किया जाता और समानता के स्तर पर खड़ा न किया जाता तो इस तरह के परिवार का निर्माण असम्भव था। "आज", जेनिया बेलोसोवा कहती हैं, "वे सभी क़ानूनी और दूसरे साधन जुटा दिये गये हैं जिनसे पुरुष और स्त्री के बीच एक-दूसरे के प्रति प्रेम, मित्रता, सम्मान, समान विचारों

और हितों पर आधारित परिवार की नींव डालना सम्भव हो गया है।"

पारिवारिक जीवन के निर्माण में इस क्रान्तिकारी प्रगति के फलस्वरूप 1917 के क़ानून पुराने पड़ गये। पारिवारिक जीवन की बुनियादी समस्याओं को ये क़ानून सुलझा चुके थे। रूस ही नहीं, हमारे देशों में भी, पहले महायुद्ध से पहले के काल में पारिवारिक जीवन में शिथिलता आ गयी थी। इस शिथिलता के कारणों को दूर करने के बाद सोवियत जनता ने दूसरी गम्भीर समस्याओं को सुलझाना शुरू किया। पहले महायुद्ध से पहले के काल की शिथिलता ने पारिवारिक सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया था। यह शिथिलता इस महाद्वीप पर तो और भी भयानक रूप धारण करती जा रही है।

सोवियत पुरुषों और स्त्रियों ने भविष्य की ओर देखना शुरू किया। उन्होंने अपने बच्चों की शिक्षा और उन्नति की ओर देखना शुरू किया। सोवियत सरकार की बार-बार यह कहकर आलोचना की गयी है कि उसने पारिवारिक जीवन को समाप्त करना चाहा और बच्चों को – राज्य की पैदावार के तौर पर – 'उगाना' चाहा। नये सोवियत विवाह और परिवार क़ानूनों ने पिछले बीस सालों में परिवार को नये और ऊँचे धरातल पर पहुँचा दिया है। इस उन्नत धरातल पर पहुँचना तभी सम्भव हो सका जब पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध में – पति ओर पत्नी के सम्बन्ध में – क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए।

8 जुलाई 1944 को सोवियत रूस में जो क़ानून बने उनको लेकर हमारे देश के अख़बारों ने मनमानी बातें कह डालीं। ताज्जुब की बात यह है कि पुराने क़ानूनों का नाम नहीं लिया गया। नये क़ानूनों को पुरानी नीति में एकदम परिवर्तन का द्योतक बताया गया। पुरानी नीति तो मानो आसमान से टपक पड़ी हो!

बात यह है कि सोवियत संघ के सबसे बड़े प्रजातन्त्र में (जिसे रूसी प्रजातन्त्र कहते हैं) 1927 में बड़े महत्वपूर्ण क़ानूनी परिवर्तन हुए थे। उस साल के नये विवाह-क़ानून ध्यान देने योग्य हैं।

इन क़ानूनों ने उस तरह के सम्बन्धों को क़ानूनी मान्यता दी थी जो हमारे देशों में भी क़ानूनी माने जाते हैं, जिन्हें कॉमन लॉ मैरिज (प्रचलित धर्म विवाह) कहते हैं। 1927 से पहले सोवियत संघ में जिन विवाहों को मान्यता दी जाती थी, वे थे सरकारी रजिस्ट्रारों द्वारा कराये गये विवाह। 1927 में कॉमन लॉ विवाहों को एक हद तक क़ानूनी मान्यता दे दी गयी।

इसका यह मतलब नहीं कि धर्म-विवाहों को भी रजिस्टर्ड विवाहों के स्तर पर ला खड़ा किया गया। विवाह का रजिस्ट्रेशन, विवाह-सम्बन्ध का अब भी अकाट्य सबूत माना जाता था। किन्तु औद्योगिक और सामाजिक परिवर्तन के काल में (जिसकी कठिनाइयों का हम पहले भी ज़िक्र कर चुके हैं) स्त्रियों और

बच्चों की स्थिति को और भी मज़बूत बनाने की ज़रूरत पड़ी। इसीलिए क़ानून की नयी धाराओं में कहा गया कि प्रचलित धर्म-विवाहों के अन्तर्गत विवाहित पुरुष और स्त्री को भी रजिस्टर्ड विवाह की ज़िम्मेदारियों को मानना पड़ेगा। इस सबूत की अमली ज़रूरतें ये मानी जाती थीं :

– दोनों पक्ष साथ-साथ रहे हैं।

– वे पति और पत्नी माने जाते रहे हैं।

– उनकी अपनी सम्मिलित गृहस्थी रही है।

– वे अब भी एक-दूसरे पर निर्भर हैं, या किसी समय थे और उन्होंने अपने बच्चों को साथ-साथ पाला है।

निस्सन्देह, इस क़ानून का उद्देश्य उन स्त्रियों की स्थिति को मज़बूत करना था जिनको ख़तरा था कि उनके पति रजिस्टर्ड विवाह की ज़िम्मेदारियों से बचने के लिए उन्हें छोड़कर भाग जायेंगे। यह जानी-मानी बात है कि इस सुविधा के बावजूद कि बहुत कम ख़र्च पर बड़ी आसानी से तलाक़ हासिल किया जा सकता था, ज्यों-ज्यों वक़्त बीता उन लोगों के ख़िलाफ़ जनमत बढ़ने लगा जो बिना किसी न्यायोचित कारण के ही तलाक़ के लिए दौड़ पड़ते थे। जिन लोगों ने बार-बार तलाक़ की तरफ़ क़दम बढ़ाये उनके ख़िलाफ़ उनके मित्र और बड़े-बूढ़े अनुशासन की कार्रवाइयाँ तक करने लगे। अस्तु, उन दिनों मौजूद वातावरण में ग़ैर-ज़िम्मेदार लोगों में अनुचित सम्बन्धों की प्रवृत्ति भी मौजूद थी।

यह बड़े महत्व की बात है कि 1927 के क़ानून में पति और पत्नी की व्यक्तिगत सम्पत्ति पर ख़ास ध्यान दिया गया। अधिकांश लोगों की समझ में अब आया है कि सोवियत शासन का उद्देश्य व्यक्तिगत सम्पत्ति को ख़त्म करना न तो था, न है। उसका उद्देश्य था : तमाम उद्योग-धन्धों पर से निजी मिल्कियत को ख़त्म करना, ताकि दूसरों की मेहनत-मशक्कत को मुनाफ़ा ऐंठने का साधन न बनाया जा सके। सोवियत सरकार का उद्देश्य था पूँजीवादी सम्पत्ति को ख़त्म करना। प्रचलित धर्म-विवाहों के सम्बन्ध में जो क़ानून बना उसमें इस बात की व्यवस्था की गयी कि सम्पत्ति पर पति और पत्नी, दोनों का अधिकार होगा। क़ानून में कहा गया कि पति और पत्नी में सम्बन्ध-विच्छेद हो जाये तो सम्पत्ति का बराबर-बराबर बँटवारा अदालतों के ज़रिये कराया जाये, अदालतों के ज़रिये ही बच्चों के लालन-पालन की व्यवस्था का भी प्रबन्ध कराया जाये।

आगे, क़ानून में यह भी कहा गया कि पति और पत्नी दोनों में से अगर एक काम कर सकने में असमर्थ हो तो दूसरा, जो काम करने में समर्थ हो, उसकी सहायता करेगा, भले ही दोनों में सम्बन्ध-विच्छेद क्यों न हो गया हो।

मास्को के क़ानून पण्डित जे. ब्रान्दोव ने बताया है कि सिर्फ़ इन्हीं दो बातों

में 1927 के क़ानून ने प्रचलित धर्म-विवाहों को रजिस्टर्ड विवाहों की समानता दी थी। 1927 के क़ानून ने जायदाद के उत्तराधिकार के हक़ और रजिस्टर्ड विवाहों में दिये गये उत्तराधिकार के दूसरे हक़ों को प्रचलित धर्म-विवाहों के हक़ों में शामिल नहीं किया। अगर इस सम्बन्ध में कोई परिवर्तन किया जा सकता था तो प्रमुख न्यायालय द्वारा।

ब्रान्दोव कहते हैं, "यह याद रखना चाहिए कि सोवियत रूस में – जिसमें 60 से ज़्यादा राष्ट्रीय इकाइयाँ मौजूद हैं – अखिल-संघ क़ानून विवाह तथा दूसरे रीति-रिवाज़ों से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का समावेश नहीं कर सकते थे। इसीलिए इन मामलों में क़ानून बनाने का हक़ संघ के भिन्न-भिन्न प्रजातन्त्रों को है। सोलहों भिन्न-भिन्न प्रजातन्त्रों के अपने-अपने क़ानून हैं। इन क़ानूनों के साथ-साथ समूचे सोवियत प्रजातन्त्र संघ के कुछ क़ानून हैं जो भिन्न-भिन्न प्रजातन्त्रों पर भी लागू होते हैं।"

ब्रान्दोव ने इस बात पर बल दिया है कि प्रचलित धर्म-विवाह-सम्बन्धी 1927 का क़ानून उक्रेनी प्रजातन्त्र पर लागू नहीं होता था। उक्रेनी प्रजातन्त्र में केवल रजिस्टर्ड विवाहों को मान्यता दी गयी थी। ब्रान्दोव ने यह भी बताया है कि न सिर्फ़ 1944 के समय से बल्कि उससे 17 साल पहले से ही सोवियत संघ में प्रचलित धर्म-विवाहों और रजिस्टर्ड विवाहों में अन्तर माना जाता था।

इस सम्बन्ध में, 1944 में जो बड़ा परिवर्तन हुआ और जिसे आलोचक नज़रन्दाज़ कर गये हैं, वह यह कि प्रचलित धर्म-विवाहों की वहाँ अब कोई क़ानूनी मान्यता नहीं रही। इस परिवर्तन का कारण बहुत साधारण है। सोवियत संघ में विवाह और परिवार की स्थिति इतनी उन्नत हो चुकी है कि महिलाओं और बच्चों की सुरक्षा के लिए यदि किसी सम्बन्ध को मान्यता दी जाती है तो सामाजिक तथा क़ानूनी रूप से समर्थित विवाह-सम्बन्ध को।

इस बारे में मुझे और अधिकृत सूचना सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी के क़ानून संस्थान के सदस्य और नागरिक-क़ानून पर अनेक पाठ्य पुस्तकों के रचयिता प्रोफ़ेसर जी. स्वेर्दलोव से मार्च 1945 में मिली।

उन्होंने बताया कि "सोवियत संघ में प्रचलित धर्म-विवाह का बड़ा शिक्षाप्रद इतिहास है। 1918 में अनियमित विवाह-सम्बन्धों को मान्यता नहीं दी गयी थी। कारण बहुत साधारण था : उनको मान्यता देने से परिवार के मूल आधार खोखले पड़ जाते...। सोवियत राज्य ने अपने आरम्भ काल से ही परिवार और परिवार को सुदृढ़ बनाने वाले उपायों पर ख़ास ध्यान दिया है...ताकि शक्तिशाली और स्वस्थ परिवार का निर्माण सम्भव हो सके।"

अगर यह सच है तो फिर आठ साल तक मान्यता न देने के बाद 1926 में

धर्म-विवाहों को क्यों क़ानूनी बना दिया गया?

"इसलिए", प्रोफ़ेसर स्वेर्दलोव उत्तर देते हैं, "कि सोवियत राज्य और सोवियत अर्थव्यवस्था के विकास की प्रारम्भिक मंज़िलों में धर्म-विवाहों को क़ानूनी मान्यता न देने से औरतों के हित ख़तरे में पड़ जाते। आम जनता का आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर अभी ऊँचा नहीं था। पुनर्व्यवस्था के काल की आर्थिक कठिनाइयों ने बेरोज़गारी और कंगाली का रूप धारण कर रखा था। इन परिस्थितियों में लाज़िमी था कि जीविका के साधनों से वंचित महिलाओं को ऐसे पुरुषों से विवाह करने के लिए मजबूर होना पड़ता जिनके पास खाने-पहनने के लिए काफ़ी था।"

"धर्म-विवाहों पर उत्तराधिकार आदि के हक़ न लागू करने से नुक़सान सबसे पहले और सबसे ज़्यादा औरतों का होता। सोवियत राज्य ऐसी स्थिति को टिकाऊ नहीं बनने दे सकता था।"

प्रोफ़ेसर स्वेर्दलोव ने आगे कहा, "बाद में भारी परिवर्तन हुए। बेरोज़गारी को ख़त्म कर दिया गया। महिलाओं के लिए ऐसी परिस्थितियाँ तैयार कर दी गयीं जिनके अन्तर्गत वे नौकरी या पढ़ाई, जो भी चाहें, कर सकती थीं। हज़ारों लाखों की तादाद में महिलाएँ उद्योग-धन्धों में शामिल हो गयीं। देश के आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में महिलाओं का बहुत महत्वपूर्ण स्थान हो गया। देश पर जर्मनों के आक्रमण से पहले 1 करोड़ 10 लाख महिलाएँ उद्योग-धन्धों और दफ़्तरों में काम करती थीं। 1 करोड़ 90 लाख महिलाएँ सामूहिक खेतों में काम करती थीं। युद्ध शुरू होने से पूर्व उद्योग-धन्धों में काम करने वालों में औरतों की संख्या 45 प्रतिशत थी।"

महिलाओं की आमदनी में भारी वृद्धि हुई। माताओं के लिए राजकीय सहायता भी बढ़ायी गयी। स्कूलों, बाल उद्यानों, किण्डरगार्टनों इत्यादि की संख्या कई गुनी ज़्यादा हो गयी। सोवियत परिवारों की उन्नति के जितने भी साधन थे, उन सभी में बढ़ती हुई। प्रोफ़ेसर स्वेर्दलोव ने जेनिया बेलोसोवा के विचारों का समर्थन किया है। "इस आर्थिक पृष्ठभूमि के कारण ही वे नये तत्व उत्पन्न हुए जिन्होंने पुरुष और स्त्री, पति और पत्नी, के सम्बन्धों को नियन्त्रित किया। महिलाओं के हितों की रक्षा के लिए अनियमित विवाहों को क़ानूनी मान्यता और क़ानूनी सुरक्षा देने की अब ज़रूरत न रह गयी थी। उल्टे, यह सोचने का अब हर एक को अधिकार था कि यदि कोई स्त्री किसी पुरुष से अनुचित सम्बन्ध करती है तो दोष स्त्री का है। उसका दोष यह है कि विवाह और परिवार के प्रति उसका रवैया ग़ैरज़िम्मेदारी का और विचारशून्य है", उन्होंने कहा।

हम यह सोचकर आश्चर्यचकित रह जाते हैं कि विवाह-सम्बन्धों को दृढ़

करने और मानव परिवार को सुरक्षित बनाने जैसी गम्भीर समस्याओं को क़ानूनी-पण्डित सुलझा सकते हैं। किन्तु हमारे देशों में आज विवाह, तलाक़ आदि में क़ानूनी परिवर्तनों के लिए बड़ा गुल-गपाड़ा मचा हुआ है। मानना पड़ेगा कि जिन परिवर्तनों का सुझाव हमारे देशों में दिया गया है, वे तलाक़-क़ानून को सरल बनाने के लिए हैं। स्पष्ट शब्दों में, हमारे देशों में आन्दोलन तलाक़ को और भी आसान बनाने के लिए है।

सोवियत रूस में विवाह-सम्बन्धी क़ानूनी धाराओं और हमारे देशों में ऐसी ही कार्रवाई के बीच अन्त की ख़ास बात क्या है? इसका पता लगाना बहुत मुश्किल नहीं। सोवियत रूस में पिछले दिनों हुए अनेक क़ानूनी परिवर्तनों का उद्देश्य यह रहा है कि सोवियत समाज के सामाजिक-आर्थिक परिवर्तनों के साथ-साथ क़ानूनी विवाह पूरी तरह मेल खायें। हमारे देशों में भी विवाह क़ानून के "नवीकरण" की माँग की जाती है। किन्तु इस माँग का कारण "आगे बढ़े" वकील, न्यायाधीश, सभासद - यहाँ तक की पुरोहित लोग - भी बताते हैं : "प्रेम और नैतिकता की तरफ़ अब हमारा नज़रिया बदल गया है।"

लेकिन एक अन्तर और भी है। सोवियत विवाह क़ानूनों में जो परिवर्तन हुए उनका वास्तविक उद्देश्य सबसे पहले स्त्रियों की स्थिति को सुदृढ़ बनाना रहा है। उनका उद्देश्य यह था कि विवाह-सम्बन्ध को भी - पुरुषों और स्त्रियों के सम्बन्ध को, अपने बच्चों से उनके सम्बन्ध को तथा समूचे पारिवारिक सम्बन्ध को - सुदृढ़ बनाया जा सके। हमारे यहाँ इन उद्देश्यों की चर्चा तक नहीं होती। उल्टे, तलाक़ क़ानूनों में परिवर्तनों का विरोध करने वाले वे लोग दिखायी देते हैं जो परिवार के और भी कमज़ोर हो जाने के डर से घबरा उठे हैं। हमारे यहाँ के 'अनुभवी' लोग बार-बार विवाह-सम्बन्धों के पतन और तलाक़ों की बढ़ती की दुहाई देते हैं। वे कहते हैं : पारिवारिक जीवन के पतन को रोकने के लिए क़ानून में ही कुछ परिवर्तन किये जायें।

1944 के सोवियत विवाह और पारिवारिक क़ानूनों की मुख्य बातों को देखने से उपरोक्त कथन और भी स्पष्ट हो जायेगा।

सबसे पहली बात यह है कि वहाँ धर्म-विवाहों को क़ानूनी तौर पर उठा दिया गया। सोवियत रूस इस मामले में अन्य देशों से आगे बढ़ा हुआ था। इसका कारण यह नहीं है कि वहाँ क़ानून पास कर दिया गया था। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि धर्म-विवाहों को न्याय-संगत ठहराने वाले आर्थिक और सामाजिक कारण सोवियत रूस में अब मौजूद नहीं थे।

दूसरे यह कि सोवियत रूस में विवाह-सम्बन्ध अब उतना आसान नहीं था जितना पहले था। भावी पति और पत्नी को रजिस्ट्रार के सामने उपस्थित होकर

यह घोषणा करनी पड़ती कि उनके विवाह में किसी तरह की क़ानूनी बाधा मौजूद नहीं है। पुरुष और स्त्री घोषणा करते कि एक-दूसरे के स्वास्थ्य की स्थिति से वे भली-भाँति परिचित हैं। फिर वे बताते कि दोनों में से किसी ने पहले विवाह किया था या नहीं। यहाँ रजिस्ट्रार बड़ी सतर्कता से काम लेता। पहले विवाह से अगर किसी के बच्चे होते तो उनके पालन-पोषण सम्बन्धी तथ्यों की जाँच की जाती। उनके पालन-पोषण की उचित व्यवस्था न हुई तो विवाह नहीं हो सकता था। सोवियत नागरिक "सौगन्ध" को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। इसलिए ग़लत-सलत सूचना दिये जाने की गुंजाइश नहीं होती। अब रजिस्ट्रार का कर्तव्य होता कि विवाह-इच्छुक पुरुष और स्त्री को विवाह-सम्बन्धी क़ानून पढ़कर सुनाये और झूठे बयान देने के कड़े दण्डों से उन्हें अच्छी तरह परिचित करा दे। इतना सब कुछ हो जाने के बाद ही विवाह हो सकता था।

एक दिलचस्प बात और भी थी। नये सोवियत क़ानून में एक ऐसी धारा थी जो दूसरे देशों में मौजूद धार्मिक रोक से बहुत भिन्न नहीं थी। सोवियत रूस में विवाह-सम्बन्धी दरख़्वास्त को सबके सामने पढ़कर सुनाने की प्रथा नहीं थी। फिर भी यदि कोई पुरुष या स्त्री इस विवाह-सम्बन्ध के बारे में सुने और इसे रोकने के बारे में ज़रूरत महसूस करे तो वह रजिस्ट्रार के सामने उपस्थित होकर विवाह को तब तक रुकवा सकता था जब तक कि उसकी शंकाएँ दूर न हो जायें।

अमेरिका, ब्रिटेन और कनाडा के लिए सोवियत रूस का तलाक़ क़ानून बहुत ही दिलचस्प सिद्ध होगा। इन देशों को यह जानकर कम ताज्जुब न होगा कि "नास्तिक" देश सोवियत रूस में तुरत-फुरत तलाक़ों को ख़त्म कर दिया गया। वहाँ विवाह-सम्बन्ध को भंग करना आसान चीज़ नहीं रह गयी, इसके रास्ते में एकदम नयी रुकावटें खड़ी कर दी गयीं।

सोवियत रूस ही एक ऐसा देश है जहाँ तलाक़ आसान नहीं, मुश्किल होता जा रहा है।

8 जुलाई 1944 से पहले - कम-से-कम कहने-भर को तो - यह सम्भव था ही कि रजिस्ट्रार के पास अर्जी देकर और थोड़ी फ़ीस जमा करके तलाक़ हासिल कर लिया जाये। पुरुष या स्त्री, कोई भी, यह कर सकता था। बाद में दूसरे पक्ष को सूचित कर दिया जाता था। कई सालों तक यही तरीक़ा जारी रहा। किन्तु पिछले दस सालों में सोवियत नागरिकों ने तलाक़ की तरफ़ ज़्यादा गम्भीर रुख़ अपनाया है। बच्चों के पालन-पोषण इत्यादि सम्बन्धी क़ानूनों को देखकर ग़ैरज़िम्मेदार लोगों को तलाक़ के लिए दौड़ पड़ने से पहले चार बार सोचना पड़ता था कि वे क्या कर रहे हैं। इससे भी महत्व की बात यह है कि जनता का

सांस्कृतिक स्तर उन्नत हुआ। स्त्रियों की स्थिति में मार्के का सुधार हुआ। फलतः तलाक़ की दर में लगातार कमी होती गयी।

नये तलाक़ क़ानूनों ने सभी पुराने नियमों को रद्द कर दिया। अब तलाक़ हासिल करने के लिए सोवियत पुरुष और स्त्री दोनों को पहले अदालत में दरख़्वास्त पेश करनी पड़ती। इसका ख़र्च लगभग दो सौ डॉलर बैठता था, साथ ही, दरख़्वास्त का एक नोटिस अख़बारों में छाप दिया जाता था, ताकि जो लोग भी इस सम्बन्ध-विच्छेद में दिलचस्पी रखते हों उन्हें सूचना मिल जाये।

इसके बाद पुरुष और स्त्री को जनता की अदालत में उपस्थित होना पड़ता। सम्बन्ध-विच्छेद के बारे में दरख़्वास्त में जो भी बातें कही गयी होतीं, उनका अध्ययन किया जाता और उन पर बहस होती। जिस बात को जानकर हमारे क़ानूनविज्ञों को आश्चर्य हुआ, वह यह थी कि सोवियत तलाक़ क़ानून में तलाक़ की एक भी वजह का ज़िक्र नहीं किया गया। इसका कुछ लोगों ने अर्थ यह लगाया कि सोवियत तलाक़ क़ानून महज़ दिखावे की चीज़ है; उन्होंने कहा कि यह नौकरशाही और तानाशाही का क़दम है और "अब स्तालिन ने तलाक़ न मंज़ूर करने का हुक्म दे दिया है।" लेकिन ये बातें झूठी साबित हुईं। नये क़ानून के अन्तर्गत हज़ारों तलाक़ मंज़ूर किये जा चुके हैं, हालाँकि 1944 से पहले के स्तर के मुक़ाबले तलाक़ों की संख्या बहुत कम हो गयी है।

सोवियत तलाक़ क़ानून में "तलाक़ की वजह" का ज़िक्र क्यों नहीं है, यह मामूली समझदारी की बात है। आख़िर क़ानून-पण्डितों को यह हक़ कैसे दे दिया जाता कि वे सदा के लिए ऐसे क़ानूनों की सूची पेश कर दें जिनके अन्तर्गत पति और पत्नी का जीवन भार मान लिया जाये। विवाह-सम्बन्धों के टूटने के कारण अनगिनत होते हैं। जो कारण किसी एक विवाह-सम्बन्ध के विच्छेद के लिए घातक बन जाये वही मुमकिन है। किसी दूसरे विवाह-सम्बन्ध के विच्छेद में क़तई महत्व की चीज़ न हो। सम्बन्ध-विच्छेद के कारणों की सूची बनाने बैठना - मानो वह ट्रैफ़िक नियमों के उल्लंघन के कारणों की सूची हो - हास्यास्पद नहीं तो और क्या है!

सोवियत क़ानून ने जिस उचित सिद्धान्त को मान्यता दी, वह यह था कि केवल पति और पत्नी ही बता सकते हैं कि अब उनके आपसी सम्बन्ध अस्थिरता की कगार पर पहुँच चुके हैं। इसका यह मतलब नहीं कि उन्हें यह फ़ैसला करने का हक़ था कि वे सम्बन्ध-विच्छेद करें या नहीं। परिस्थिति की पूरी जाँच तो जनता की अदालत ही करती। तलाक़ के नये नियमों को संचालित करने वाला सिद्धान्त यह था कि विवाह सिर्फ़ निजी चीज़ नहीं है। सिद्धान्त यह था कि विवाह एक पारिवारिक, एक व्यापक - सामाजिक - ज़िम्मेदारी है। अदालत इस

सिद्धान्त को अमल में लागू करती और इस बात पर ज़ोर देती कि गवाह अपना स्पष्ट मत व्यक्त करें।

पति और पत्नी से भली-भाँति परिचित दूसरे व्यक्ति जब तक स्पष्ट रूप से सम्बन्ध-विच्छेद के पक्ष में अपना मत न दे दें, तब तक सोवियत रूस में तलाक़ की मंजूरी नहीं हो सकती। इससे दो लाभ होते हैं। पहला तो यह कि तलाक़ के लिए निरुत्साहित किया जा सकता है। पति और पत्नी को अपनी सामाजिक ज़िम्मेदारी निभाने को प्रेरित किया जा सकता है। अपनी समस्याएँ सुलझाने के लिए हर मुमकिन प्रयत्न करने की उनसे अपील की जा सकती है। दूसरे यह कि अदालत हर मामले को, उन मामलों की ज़रूरतें देखकर ही निपटाती।

उद्देश्य यह था कि तलाक़ को जब भी सम्भव हो, रोका जाये। सम्बन्ध-विच्छेद होने से पहले सोवियत पति और पत्नी को अदालत को पूरी तरह विश्वास दिला देना पड़ता कि दोनों में समझौता और मेल हो सकना अब असम्भव है। पुराने फ़ैसले क्या कहते हैं या नयी 'ज़रूरतें' क्या हैं, इससे कोई वास्ता नहीं था। हर दरख़्वास्त अलग से पूरी तरह जाँची जाती और तब फ़ैसला सुनाया जाता।

क्या तलाक़ सम्बन्धी नये कड़े सोवियत क़ानून हमारे तलाक़ क़ानूनों की नक़ल थे, जैसा कि अनेक लेखकों का दावा है? नहीं, क़तई नहीं। सोवियत क़ानूनों के आलोचकों ने जिस चीज़ को भुला दिया वह है : नये सोवियत क़ानून की असलियत। सोवियत क़ानून का प्रमुख उद्देश्य था – तलाक़ के लिए इच्छुक दम्पति में मेल और सुलह कराना।

दूसरे शब्दों में, नयी तलाक़ अदालतें गर्भ निपात सम्बन्धी पुराने अस्पतालों में स्थित 'परामर्श समितियों' की तरह थीं जिनका उद्देश्य तलाक़ को रोकना था। लेकिन क्या हमारे तलाक़ क़ानूनों का भी यही उद्देश्य नहीं है? है, किन्तु सिद्धान्त मात्र में। अमल में हमारे तलाक़ क़ानून दरअसल तलाक़ को ज़रा मुश्किल और महँगा बनाने के ज़रिये-भर हैं। महँगे हो जाने से आबादी का थोड़ा हिस्सा ही उनका लाभ उठा सकता है। (पूँजीवादी) जनवादी देशों में कोई क़ानून यह नहीं कहता कि तलाक़ के लिए अर्जी देने से पहले दूसरों से मशविरा करो और सुलह-समझौते की कोशिश करो। मनोवैज्ञानिकों, चिकित्सकों और पादरियों ने सलाह-मशविरे के लिए 'वैवाहिक शफ़ाख़ाने' खोले हैं। पर इन शफ़ाख़ानों को कोई क़ानूनी समर्थन प्राप्त नहीं। इसके विपरीत, नये सोवियत क़ानून का कहना था कि तलाक़ के लिए इच्छुक दम्पति जनता की अदालत में अपनी दलीलें पेश करें कि आख़िर वे तलाक़ चाहते ही क्यों हैं।

सोवियत तलाक़ पद्धति का हाल ही में अध्ययन करने के बाद इस पुस्तक के लेखक और लेखक की पत्नी ने जो बयान दिया था, उसका एक अंश हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं :

"कुछ साल पहले जब ज़ारशाही व्यवस्था की विरासत के रूप में अनेक अनुचित विवाह-सम्बन्ध मौजूद थे, तब सोवियत संघ में तलाक़ हासिल करना आसान था। किन्तु अब सोवियत संघ में तलाक़ हासिल करना कठिन है। यह कहना अनुचित न होगा कि कुछ मानों में कनाडा के मुक़ाबले भी सोवियत संघ में तलाक़ हासिल करना मुश्किल है। हम तो इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि जो कठिनाई उपस्थित की जाती है, उसका उद्देश्य तलाक़ में देर करना है। यूँ तलाक़-विरोधी कोई क़ानून वहाँ मौजूद नहीं है। हमने जिस असलियत को देखा वह इस प्रकार है :

"लड़ाई-झगड़े, 'असमर्थता', यहाँ तक की अनाचार भी, स्वयं में, तलाक़ के कारण नहीं हैं। क़ानून की किसी धारा से मिलने वाली बातें 'सिद्ध करके भी' पति और पत्नी तलाक़ हासिल नहीं कर सकते। जनता की अदालत में पति और पत्नी के अलावा तमाम ऐसे गवाहों को भी उपस्थित होना पड़ता है जो उनको अच्छी तरह जानते हैं। उन्हें यह साबित करना पड़ता है कि विवाह-सम्बन्ध को क़ायम रखने का हर मुमकिन उपाय किया जा चुका है। उन्हें यह भी साबित करना पड़ता है कि अगर यह विवाह-सम्बन्ध क़ायम रहा तो यह अनैतिक बात होगी, कि इससे बच्चे और उनके माता-पिता स्वस्थ जीवन न बिता पायेंगे। अन्त में, पति और पत्नी को पूरी तरह साबित करना पड़ता है कि तलाक़ के परिणामस्वरूप बच्चों का जीवन बिगड़ेगा नहीं, सुधरेगा।"

"जिस किसी भी केन्द्र में हमने तलाक़ के सम्बन्ध में प्रश्न किया, हमें यही उत्तर मिला कि युद्ध के बाद के वर्षों में सोवियत रूस में तलाक़ों की संख्या बहुत तेज़ी से घटी है।"

इस सम्बन्ध में और टिप्पणी जोड़ने की ज़रूरत नहीं। 25 अक्तूबर 1945 को अटलाण्टिक नगर के समाचार पत्रों में पेनीसिल्वानिया स्टेट कॉलेज के विवाह-सम्बन्धी सलाह-विभाग के निर्देशक डॉ. क्लिफ़र्ड आर. एडम्स के वक्तव्य की रिपोर्टें छपीं :

"1955 तक", इन्होंने घोषणा की, "अमेरिका में हर दस विवाहों में से चार विवाहों का अन्त तलाक़ होगा...."। आज से बीस-तीस साल बाद अविवाहित महिलाओं की पीढ़ी देखने में आयेगी, क्योंकि उनसे ब्याह करने को पुरुष ही नहीं मिलेंगे। "लेकिन ये महिलाएँ हाथ पर हाथ रखे मक्खियाँ नहीं मारा करेंगी। पति प्राप्त करने के लिए वे पत्नियों से होड़ लेने के लिए कमर कसकर सामने आ डटेंगी।"

डॉ. एडम्स ने आगे यह भी बताया कि अमेरिका "दुनिया का एक ऐसा देश

है जहाँ सबसे ज़्यादा विवाह और सबसे ज़्यादा तलाक़ होते हैं। यहाँ हफ़्ते में 1000 तलाक़ होते हैं। यह दर बढ़ती ही जा रही है।" उनकी भविष्यवाणी थी कि दस साल के भीतर ही "नवयुवक ओर नवयुवतियों में बुरी तरह अनाचार फैलेगा और नैतिकता यहाँ निम्नतम स्तर पर पहुँच जायेगी।"

एक सप्ताह बाद शिकागो विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के प्रोफ़ेसर डॉ. अर्नेस्ट डब्ल्यू. बर्गेस ने घोषणा की कि तुरत-फुरत विवाह रचाने की युद्ध-काल की प्रवृत्ति आगे आने वाले कुछ सालों में और भी बड़ा ख़तरा बन जायेगी।

"विवाह अब थोड़े काल के ही परिचय, मेल-मुलाक़ात और मित्रता के बाद हो जाया करेंगे। लड़ाई के दिनों में वैवाहिक जीवन का सुख ज़बरदस्ती टालते जाना पड़ा था। अब इसी कमी को पूरा करने के लिए तमाम लोग दौड़ पड़ेंगे।"

उन्होंने कहा : "लड़ाई के दिनों में अविवाहित रहने के कारण जिन लोगों की उम्र काफ़ी ज़्यादा हो चुकी है, वे भी विवाह करना चाहेंगे। यदि पिछले युद्ध के बाद का रवैया जारी रहा तो ये लोग आमतौर से नयी उम्र की लड़कियों को ही चाहेंगे। विवाह के बाज़ार में अपनी क़ीमत घटते देख ज़्यादा उम्र की औरतें जिधर मौक़ा लगा उधर हाथ मारेंगी। नतीजा यह होगा कि तलाक़ की दर और भी बढ़ेगी।"

युद्ध से पहले तलाक़ों की दर 16 प्रतिशत थी। डॉ. बर्गेस ने कहा कि यह दर निकट भविष्य में 25 प्रतिशत हो जायेगी। डॉ. एडम्स के मुक़ाबले डॉ. बर्गेस का अन्दाज़ा हल्का है। डॉ. एडम्स का कहना था कि यह दर 40 प्रतिशत होगी।

दोनों ही अन्दाज़ों की परख हो गयी है। 'मेट्रोपोलिटन लाइफ़ इंश्योरेंस कम्पनी' के "गणना सम्बन्धी बुलेटिन" (अंक 30, नं. 4) में अमेरिका में तलाक़ों की दर का विश्लेषण पेश किया गया है। उससे पता चलता है कि 1946 में तलाक़ों की दर सचमुच 39.97 प्रतिशत तक पहुँच गयी थी। किन्तु 1948 में वह 25 प्रतिशत से कुछ कम हो गयी।

इस तरह के विवाहों से जन्मे शिशुओं की ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। परिस्थिति यह है कि हमारे यहाँ के अधिकारियों की एक पूरी की पूरी पीढ़ी ने यह कहते हुए अपनी ज़िन्दगी गुज़ार दी कि सोवियत रूस तो अनैतिक भौतिकवादियों का देश है। लेकिन हमारे देशों में जिस बेमिसाल तेज़ी से परिवार तितर-बितर हो रहे हैं और 'इतिहास में नैतिकता के निम्नतम स्तर' पर पहुँचने का जो नज़ारा सामने आ रहा है, उसे रोकने की कोई कोशिश नहीं की जा रही है। इस बात पर अड़े रहकर कि ईसाई सभ्यता का तो आधार ही पारिवारिक जीवन की पवित्रता है, हम चुपचाप खड़े रहकर अनैतिकता और तलाक़ों की बाढ़ का इन्तज़ार कर रहे हैं। उधर, समाजवादी राज्य में पारिवारिक जीवन को नये और

उन्नत स्तर पर पहुँचाने की वैज्ञानिक योजनाओं को आश्चर्यजनक सफलता मिल रही है।

ऐसे आलोचक कितने हैं जिन्होंने मातृत्व सम्बन्धी सोवियत क़ानूनों का दूसरे देशों में प्रचलित ऐसे ही क़ानूनों से तुलनात्मक अध्ययन किया हो? बहुत थोड़े। कुछ आलोचक ऐसे हैं जिन्होंने नये क़ानूनों की बाबत सिर्फ़ यह कहकर सन्तोष कर लिया कि इन्होंने "मातृत्व को उचित सम्मान प्रदान किया है।" हम देख चुके हैं कि अब से एक पीढ़ी पहले सोवियत रूस में गर्भवती स्त्रियों और बच्चों की सुरक्षा के केन्द्र बड़ी लगन से खोले गये थे। हम यह भी देख चुके हैं कि स्त्रियों की स्थिति सुधारने के लिए किस तरह वहाँ अथक प्रयत्न किया गया।

नये क़ानून पास होने से पहले गर्भवती स्त्रियों की मदद के लिए राज्य की ओर से सहायता मिलती थी। सिर्फ़ बच्चों के खाने-ख़र्चे के लिए सालाना लगभग 150,000,000 डॉलर ख़र्च होते थे। यह दान नहीं था। माताएँ इसे उसी रूप में स्वीकार करती थीं, जिस रूप में कि हम पब्लिक स्कूलों की सहायता को स्वीकार करते हैं। बड़े-बड़े परिवारों को नक़द सहायता दी जाती थी। सातवाँ बच्चा पैदा होने पर सालाना 400 डॉलर की सहायता दी जाती थी। सातवें बच्चे के बाद पैदा होने वाले हर बच्चे पर 1000 डॉलर की सहायता दी जाती थी। दसियों करोड़ औरतों को इस योजना के अन्तर्गत सहायता मिलती थी, ताकि ज़्यादा बड़े परिवार के बच्चों और माता-पिता को अड़चनों का शिकार न बनना पड़े।

नये क़ानून के पास होने के बाद के पाँच सालों में सोवियत माताओं को लगभग 35 अरब (साढ़े तीन बिलियन) डॉलरों की नक़द सहायता मिली। जिस साल मैंने रूस का दौरा किया था अकेले उस साल में गर्भवती स्त्रियों को 50 करोड़ डॉलरों की सहायता मिली थी। बड़े परिवार वाली माताओं को अपने बच्चों की सहूलियत के लिए पन्द्रह हज़ार या उससे भी ज़्यादा डॉलर मिले।

नये क़ानून और भी ज़्यादा प्रगति के द्योतक हैं। किन्तु, पुराने नियमों में और इनमें कोई गम्भीर अन्तर नहीं। मातृत्व के महत्व को स्वीकार करते हुए माताओं के लिए तीन पदकों की व्यवस्था की गयी है। ये पदक हैं : मातृत्व का पदक, मातृत्व के गौरव का पदक, और वीर माता का पदक।

अभी तक पैंतीस हज़ार सोवियत माताओं को सबसे ऊँचा पदक - वीर माता का पदक - मिल चुका है। लगभग तीस लाख माताओं को अन्य दोनों पदक मिले हैं।

किन्तु अब सभी माताओं को और भी ज़्यादा नक़द सहायता से लाभ पहुँचाया जायेगा। गर्भवती स्त्रियों को मुफ़्त चिकित्सा तथा दूसरी सुविधाएँ तो मिलेंगी ही,

हर माता को तीसरा शिशु पैदा होने पर अब अस्सी डॉलर की नक़द सहायता मिलेगी। चौथा शिशु पैदा होने पर 250 डॉलर नक़द और लगभग 16 डॉलर माहवारी मिलेंगे। पाँचवाँ शिशु पैदा होने पर 340 डॉलर नक़द और 24 डॉलर माहवारी मिलेंगे। इसी तरह ग्यारहवें बच्चे तक नक़द और माहवारी सहायता बढ़ती जायेगी और ग्यारहवें शिशु पर 1000 डॉलर नक़द और 60 डॉलर माहवारी की सहायता मिलेगी।

एक तो नैतिक समस्याओं की ओर समझदारी के रवैये के कारण, दूसरे, युद्ध के बाद की अमली समस्याओं के कारण अविवाहित और विधवा माताओं को अब पहले से ज़्यादा सहायता मिलती है। माहवारी नक़द सहायता के रूप में उन्हें राज्य की ओर से खुद-ब-खुद मदद मिलती रहती है। इस तरह हर शिशु पर बारह साल तक उन्हें 20 से लेकर 40 डॉलर तक माहवारी सहायता मिलती है। मेहनतकश माताओं के शिशुओं के लिए शिशुशालाओं की व्यवस्था है। यहाँ वे अपने बच्चों को जितने भी अर्से के लिए छोड़ना चाहें, छोड़ सकती हैं। किन्तु बच्चे उन्हीं के होते हैं, उनसे लिये नहीं जा सकते।

परिवार के प्रति ऐसी ज़िम्मेदारी की मिसाल दूसरे देशों में देखने को नहीं मिलती। इसने दूसरे देशों के लोगों को भी प्रभावित किया है। आज घोर प्रतिक्रियावादी तबक़ों में भी ऐसे डॉक्टर, अध्यापक, वकील व विद्यार्थी मिलेंगे जो खुल्लमखुल्ला या व्यक्तिगत रूस से स्वीकार करते हैं कि पारिवारिक सम्बन्धों को दृढ़ बनाने में सोवियत रूस ने बड़ी कामयाबी हासिल की है। इस तरह की स्वीकारोक्ति की एक मिसाल शिकागो की कैथोलिक लोयोला यूनिवर्सिटी के चिकित्सा-प्रोफ़ेसर डॉक्टर हर्बर्ट ए. रैटनर के एक भाषण में कही गयी बातें हैं। 24 जनवरी 1951 को डॉक्टर रैटनर ने कैथोलिक गिल्ड ऑफ़ सेण्ट पॉल की ओर से आयोजित एक सभा में टोरोण्टों में भाषण दिया था। आश्चर्यचकित कैथोलिक श्रोताओं से उन्होंने कहा : "समाज के आधारबिन्दु – परिवार – को सुसंगठित रखने में रूसी लोग पश्चिम से कहीं आगे बढ़े हुए हैं।" उन्होंने बताया कि सोवियत पुरुषों का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा है, वहाँ तलाक़ों की संख्या गिनी-चुनी है, भ्रूण-हत्याओं की संख्या नहीं के बराबर है और परिवार सच्चे प्रेम की भावना पर आधारित हैं। इस कैथोलिक डॉक्टर ने इस बात की भी प्रशंसा की कि सोवियत स्कूलों में अब 'इन्द्रिय-शिक्षा' नहीं दी जाती – क्योंकि यह शिक्षा हानिकारक साबित हुई। "बच्चों को इन्द्रिय-शिक्षा देने का सबसे अच्छा उपाय," उन्होंने कहा, "यह है कि इन्द्रिय-भोग और विवाह के प्रति हम खुद सही नज़रिया अपनायें।"

अनैतिकता के विरुद्ध, नये मानव के निर्माण की योजना के अन्तर्गत ये हैं

सोवियत रूस की ऐतिहासिक सफलताएँ :

1. सोवियत रूस में पहले भ्रूण-हत्या को क़ानूनी बनाया गया और फिर सहज वैज्ञानिक तरीक़ों से उसको ख़त्म कर दिया गया।

2. आर्थिक, सामाजिक और नैतिक प्रगति के बाद भ्रूण-हत्या अक्षम्य मानी जाने लगी तो सोवियत रूस में उसे व्यक्ति और समाज के प्रति अपराध घोषित कर दिया गया।

3. तलाक़ सोवियत रूस में पहले माँग करते ही हासिल हो जाता था। लेकिन बीस साल के भीतर ही तलाक़ की दर को निम्नतर स्तर पर ला दिया गया।

4. तलाक़ के मर्ज़ को ख़त्म करने के लिए सोवियत रूस में समझौते की अदालतें क़ायम की गयीं जिनका उद्देश्य पति और पत्नी के बीच के सम्बन्ध को टूटने से बचाना है।

5. इन्द्रिय-रोगों को ख़त्म कर दिया गया है।

6. वेश्यावृत्ति वहाँ के समाज के लिए एक आश्चर्य की वस्तु है।

7. मातृत्व के रास्ते की अड़चनों को दूर कर दिया गया है।

8. पुरुषों और स्त्रियों के बीच वहाँ पूरी-पूरी और सच्ची समानता क़ायम की गयी है।

9. अब वहाँ प्रेम और विवाह को अभिन्न रूप से जोड़ने का प्रयत्न जारी है। प्रेम और विवाह के इस सम्बन्ध का आधार नैतिकता की नयी चेतना है। अब किसी तरह का ज़ोर-दबाव कारगर नहीं होता।

कितने ही बरस पहले सुप्रसिद्ध समाजवादी दार्शनिक फ़्रेडरिक एंगेल्स ने अपने अनन्य मित्र कार्ल मार्क्स से आगे आने वाले युग के बारे में एक भविष्यवाणी की थी। वह भविष्यवाणी यह थी :

"आगे आने वाले काल में एक नयी मानवता का जन्म होगा। तब, पुरुषों की एक ऐसी पीढ़ी आयेगी जिन्हें कभी यह ही न मालूम होगा कि धन से या किसी दूसरी शक्ति से औरतों के सम्मान को ख़रीदा जा सकता है। तब औरतों की भी एक ऐसी पीढ़ी आयेगी जिन्हें यह ही न मालूम होगा कि सच्चे प्रेम के अलावा किसी और विचार से भी अपने आपको किसी पुरुष को समर्पित किया जा सकता है।"

शराबबन्दी : संगीनों के बल पर

अब तक जितनी बातों पर हमने विचार किया है, सभी का सीधा सम्बन्ध यौन-समस्याओं से रहा है। अनैतिकता के कुछ और पहलू भी हैं। शुरू-शुरू में हमने आपको उस 'पापमय व्यवहार' तक सीमित रखा 'जिसका परिणाम समाज के लिए अहितकर होता है।' अब तक अधिकांश पाठकों को एक कमी खटकने लगी होगी; जिस समस्या की ओर हमारा इशारा है उसका हमने ज़िक्र-भर किया है; विस्तार से उस पर विचार नहीं किया।

यह समस्या है नशेबाज़ी की।

नशेबाज़ी एक नैतिक समस्या है। शराबख़ोरी अनैतिकता का एक ऐसा पहलू है जिससे, चाहे उसे पापमय माना जाये या नहीं, भयानक सामाजिक अहित होता है। शराबख़ोरी को लेकर आदिम काल से आज तक जो बहसें होती चली आयी हैं, उनमें गोता लगाने की मेरी इच्छा नहीं है। मेरे विचार में सोवियत रूस में इसके पक्ष और विपक्ष की दलीलों को वैज्ञानिक और अमली तरीक़े से एक सामाजिक आधार पर सही या ग़लत साबित किया जा चुका है। वहाँ शराबख़ोरी की समस्या उस रूप में मौजूद नहीं जिस रूप में हम लोग जानते हैं। वेश्यावृत्ति और व्यभिचार की समस्या के साथ इसे भी हल किया जा चुका है।

आप पूछेंगे : क्या शराबख़ोरी सचमुच एक समस्या है?

सोवियत रूस में आज से बीस साल पहले, और हमारे देशों में अब, व्यभिचार को बढ़ावा देने और इन्द्रिय-रोगों को फैलाने में शराबख़ोरी का ज़बरदस्त हाथ रहा है। हरेक ईमानदार पादरी, पुलिस अफ़सर, चिकित्सक, पब्लिक हेल्थ अफ़सर, फ़ौजी कमाण्डर और सामाजिक कार्यकर्ता इस बात की सच्चाई को मानता है।

पाप का ढकोसला तो छोड़िए, सच्चाई यह है कि बहुसंख्यक पुरुष, स्त्री और युवा शराब के दुष्प्रभावों के बड़ी जल्दी शिकार बन जाते हैं। इन प्रभावों का नतीजा यह होता है कि अनैतिक कार्यों से अपने को रोक सकने की मनुष्य की स्वाभाविक क्षमता में बेहद कमी हो जाती है।

अधिक स्पष्ट शब्दों में यूँ कहा जा सकता है : शायद ही कोई फ़ौजी या नौसैनिक ऐसा हो जो साधारण, यानी बिना नशे की, अवस्था में वेश्याओं के यहाँ जाता हो। युवा अपराधियों के बारे में अदालतों में मौजूद दस्तावेज़ों से साफ़ पता चलता है कि बहुत थोड़ी ही लड़कियाँ ऐसी होती हैं जो बिना शराब पिये हुए व्यभिचार में हिस्सा लेती हों। फ़ौज के डॉक्टरों को इस बात का कड़ुवा तजुर्बा है कि कई बोतलें चढ़ा चुकने के बाद अधिकांश लोगों में ज्ञान और ज़िम्मेदारी की भावना इस क़दर ख़त्म हो जाती है कि वे न सिर्फ़ किसी भी बदशक्ल औरत पर टूट पड़ने को तैयार रहता हैं, बल्कि वे इन्द्रिय-रोगों से बचाव के साधारण साधन इस्तेमाल करना भी भूल जाते हैं।

भौतिकशास्त्री और मनोवैज्ञानिक दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि शराब से समझ-बूझ बड़ी जल्दी खो जाती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बहुत से सम्मानित व्यक्ति भी शराब पीते-पिलाते हैं। यह कम महत्व की नैतिक, सामाजिक समस्या नहीं है। मैसाचुसेट्स जनरल हॉस्पिटल के प्रमुख मनोवैज्ञानिक हार्वर्ड मेडिकल स्कूल वाले डॉ. स्टेनले कौब ने शराब के चिकित्सा सम्बन्धी उस पहलू पर बड़ी अच्छी तरह प्रकाश डाला है जिसका व्यभिचार या अपराध से कोई ताल्लुक नहीं। यह बताते हुए कि इस महाद्वीप पर अभी भी साठ लाख लोग मानसिक पीड़ाओं के शिकार हैं, कि वे "पागलपन की कगार पर खड़े हुए हैं", डॉ. कौब ने कहा कि "इनमें से 15 लाख ऐसे हैं जिनकी ज़िन्दगी न तो शराब पीने से चल सकती है और न शराब के बिना।" लगभग इतने ही लोग, कहा जा सकता है, नशेबाज़ी के ख़ास मरीज हैं।

बेशक, इनमें से अधिकांश न तो व्यभिचारी हैं और न इन्द्रिय-रोगों के शिकार। फिर भी, वे धीरे-धीरे अपने आप को मिटा रहे हैं। वे अपनी शक्ति का हनन कर रहे हैं। अपने परिवार वालों और सहयोगियों के सुख को वे धूल में मिला रहे हैं। अपनी मिसाल से वे समाज को अवनति की ओर धकेल रहे हैं। सामाजिक रूप से उनकी शराबख़ोरी को एक अनैतिक काम ही माना जाना चाहिए।

सोवियत रूस में परिस्थिति क्या है?

वहाँ की परिस्थिति जानने के लिए बड़ी उत्सुकता ज़ाहिर की गयी है। सोवियत रूस में शराबख़ोरी की समस्या के बारे में जो कुछ हमें मालूम होता है वह संवाददाताओं की रिपोर्टों में कही गयी संक्षिप्त बातों से। ये रिपोर्टें अन्तरविरोधी होती हैं। आज हम पढ़ते हैं कि लाल सेना का एक प्रसिद्ध कमाण्डर शराब का नाम सुनना भी पसन्द नहीं करता। शराबबन्दी और सदाचार के उपदेशकों की बाँछें खिल उठती हैं। वे बड़ी सावधानी से इस बात को नोट कर लेते हैं। पर दूसरे ही दिन यह पढ़कर उनके उत्साह को लकवा मार जाता है कि

दो और भी ज़्यादा प्रसिद्ध जनरलों ने मित्र-राष्ट्रों की सफलता की खुशी में शराब पी और यह कि सरकारी भोज के अवसरों पर वोद्का और शराब पी जाती है। अस्तु, हमारे यहाँ के विशेषज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाल लिया कि शराबख़ोरी सोवियत रूस में सामाजिक व्यवहार का एक ऐसा अंग है जिसे अपनाना या न अपनाना अलग-अलग इन्सानों की मर्ज़ी पर निर्भर है। इतना कहकर वे चुप बैठ गये। फिर उन्होंने पता लगाने की कोशिश नहीं की कि सोवियत रूस में शराब का क्या हुआ।

परिस्थिति यह है :

व्यभिचार, वेश्यावृत्ति और इन्द्रिय-रोगों के खिलाफ़ संघर्ष के दौरान सोवियत वैज्ञानिकों को यह पता चल गया कि जब तक शराबख़ोरी की समस्या को भी हल नहीं किया जाता तब तक व्यभिचार की समस्याओं को हल नहीं किया जा सकता। उन्होंने यह काम शुरू भी किया, और उसी लगन और समझदारी के साथ जिसके कारण यौन-सम्बन्धी अनैतिकता पर विजय पाने में उन्हें सफलता मिली थी। प्रयोगों के इतिहास में शराबख़ोरी के खिलाफ़ सोवियत संघर्ष की कहानी बड़ी दिलचस्प है।

बहुत बरस पहले की बात है। एक हज़ार साल से पहले जो यात्री रूस आते-जाते रहे उन्होंने ज़ारों के साम्राज्य की भयानक शराबख़ोरी का वर्णन किया है। मनमानी शराबख़ोरी और मनमानी उद्दण्डता, निकृष्टतम व्यभिचार, आगजनी, हत्या, लूटपाट - रूसी जीवन के हर स्तर की ये आम बातें थीं। क्या महलों में रहने वाले शहंशाह और क्या झोपड़ों में बसने वाले किसान - कोई इनसे अछूता नहीं था।

रूसी उपन्यासकार तुर्गनेव ने इसी बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है : "आमतौर से रूसी नागरिक नशे में ही रहता है; पर त्योहार के दिन तो वह गले तक पिये बिना नहीं मानता।"

और, पुराने रूसी पंचांग में तो इतने त्योहार हैं कि यह गले तक शराबख़ोरी मानो दैनिक चीज़ बना दी गयी हो। क्रान्ति के बाद के पन्द्रह सालों में हालत पूरी तरह बदल गयी। सुप्रसिद्ध अमेरिकी डॉक्टर किंग्सबरी और न्यूज़होम ने यह देखा और लिखा कि काले समुद्र से वोल्गा नदी तक यात्रा करने वालों में त्योहार के दिन भी उन्होंने बहुत कम को शराब पीते देखा। नशे में धुत तो उन्होंने किसी को देखा ही नहीं। बेशक, त्योहार के दिन स्टीमरों पर और दूसरे स्थानों पर (चढ़ने-उतरने के स्थानों पर) वोद्का बिना किसी रोक-टोक के बिक रही थी।

यह एक अन्तरविरोध प्रतीत होता है। आइए, हम अब उन तथ्यों की जाँच करें जो इस अन्तरविरोध को समझने में मदद देते हैं। हमारे देशों में इन तथ्यों को

छिपाया गया है। कारण? कारण यह कि ये तथ्य इस बात का अकाट्य सबूत पेश करते हैं कि वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित मद्यपान-नियन्त्रण के उपायों से एक बड़े पैमाने पर शराबख़ोरी को ख़त्म किया जा सकता है; शराबबन्दी लागू करने की कोई ज़रूरत नहीं। शराबबन्दी के लिए आन्दोलन छेड़ने वाले हमारे देशों के लोग सोवियत रूस का नाम नहीं लेते। शायद उनको यह मालूम नहीं कि लगातार सौ साल से भी ज़्यादा रूस ने व्यापक पैमाने पर हर कोशिश, हर सुझाव अपना कर देख लिया ताकि शराबख़ोरी को रोका जाये ...अन्त में जाकर कहीं यह अमली तरीक़ा मिला और उसे अमल में लाया गया। दूसरे तरीक़ों से अगर यह भिन्न है तो इस बात में कि यह तरीक़ा कामयाब हुआ।

शराबख़ोरी को रोकने के संगठित उपाय सन 1819 से शुरू होते हैं। तब तक वोद्का की बिक्री लगभग हर जगह होती थी। तब तक लगभग हर कोई इसकी बिक्री करता था। शराबख़ोरी को रोकने के लिए जो उपाय इंग्लैण्ड और अमेरिका में पेश किये गये थे, ज़ार सरकार ने उनका अध्ययन किया। तब उसने सरकारी नियन्त्रण में शराब की इज़ारेदारी क़ायम करने का फ़ैसला किया। आठ साल तक यही व्यवस्था रही। सरकार के लिए यह व्यवस्था बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई। पर शराब की बिक्री में इससे कोई फ़र्क़ नहीं आया। दूसरे, इस व्यवस्था पर सख़्ती से अमल करना भी मुश्किल था। धीरे-धीरे इसमें घुन लगने लगा। 1826 में ज़ार ने बिक्री का सारा बन्दोबस्त निजी संस्थाओं के हाथ में सौंप दिया। साथ ही, सब तरह की शराब पर उसने बिक्री-कर लागू कर दिया। यह दरअसल उसी आधुनिक व्यवस्था का ढाँचा था जिसके अन्तर्गत शराब पर टैक्स तो लगा रहता है, पर शराब बनाने और बेचने पर कोई रोक नहीं रहती। बहुत से देशों में आज यही व्यवस्था मौजूद है। ज़ार का इरादा यह था कि औसत नागरिक के लिए तो शराब महँगी हो जाये पर राज्य के लिए ज़्यादा मुनाफ़ा आने लगे।

ज़ारशाही रूस में शराब का इस तरह रियासती कण्ट्रोल सरकार के लिए बहुत ही मुनाफ़े का साबित हुआ। उन लोगों की जेबों से पैसा दनादन खिंचा चला आता जो रोटी-दाल के खर्च में तो कमी कर सकते थे, पर वोद्का के खर्चे में किफ़ायत करने को तैयार न थे। टैक्स की बढ़ती हुई दर भी शराब की खपत में कमी लाने में कामयाब न हुई।

कोई तीस साल तक शराबख़ोरी बराबर बढ़ती ही गयी। साम्राज्य पर इसका जो हानिकर असर पड़ना था, वही पड़ा। हालत जब और भी बेक़ाबू हुई तो सदाचार का उपदेश देने के लिए पादरी लोग गिरजाघरों से निकल पड़े। 19वीं शताब्दी के मध्यकाल में छिड़ने वाले राजनीतिक सुधारों के आन्दोलन ने 1859 में बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। पादरियों के समझाने-बुझाने से ज़ार ने अब

उन सभी अड्डों को बन्द करवा दिया जहाँ शराब बनायी जाती थी। ज़ार की रिआया किसी से पीछे न थी। हाँ, कुछ रूसी जो "बीयर" (एक तरह की शराब) पीने के आदी थे, अब ज़्यादा तीखी वोद्का पीने लगे। अन्त:करण परिवर्तन उनमें नहीं आया।

तीन साल बाद सरकारी कण्ट्रोल उसी दिशा में मुड़ चला जिससे हम सभी लोग परिचित हैं। यानी, शराब की छोटी-छोटी दुकानों की संख्या घटा दी गयी और लाइसेंस व्यवस्था जारी कर दी गयी। यह क़दम ज़ार ने नशाबन्दी आन्दोलन को ज़्यादा तीव्र होता देखकर उठाया था।

बाद के तीस सालों में हालत में परिवर्तन हुआ। परिवर्तन यह हुआ कि राज्य और शराब बनाने वालों ने शराब की दुकानों की संख्या 250,000 से घटाकर 115,000 से भी कम कर दी। पर, इन दिनों वोद्का की बिक्री में ख़ूब बढ़ती हुई।

सन 1886 की एक ख़ास घटना यह भी है कि डॉ. पीटर सेम्योनोविच एलेक्सियेफ़ ने अमेरिका का दौरा किया। यह डॉक्टर सुप्रसिद्ध लेखक और दार्शनिक काउण्ट लेव तोल्सतोय के घनिष्ठ मित्र भी थे। अमेरिका में इनका परिचय बड़े पैमाने पर जारी नशा-विरोधी कार्रवाइयों से कराया गया। जब वह वापस लौटे तो बहुत ही उत्साहित थे। उनका विचार था कि रूसी जनता को अपने आप शराब छोड़ने के लिए वे शिक्षित करेंगे। इस सम्बन्ध में उन्होंने कई पुस्तकें लिखीं। उनकी कार्रवाइयों का एक ही परिणाम हुआ; ज़ार ने एक क़ानून के द्वारा यह घोषणा कर दी कि यदि मालिक पुरानी प्रचलित प्रथा के अनुसार नौकरों की तनख़्वाह कुछ नक़द और बाक़ी वोद्का के रूप में देंगे तो इसे अपराध माना जायेगा!

रूस के उन क़स्बों ने जहाँ फ़ैक्टरियाँ थीं, अब 'पश्चिमी' रूप धारण करना शुरू कर दिया। उनकी दशा भी वैसी ही हो चली जैसी शुरू-शुरू में अमेरिका के खदान केन्द्रों की थी : तनख़्वाह मिलते ही सारे पैसे लेकर मज़दूर शराब की दुकान पर जा पहुँचते। लेकिन इस बेरोक शराबख़ोरी का सामाजिक दुष्परिणाम शीघ्र ही सामने आया। अब उद्योग के मुनाफ़ों में कमी आने लगी। अब, रूसी और विदेशी पूँजीपतियों ने ज़ार के वैभवशाली साम्राज्य और करोड़ों रूसी मज़दूरों से मुनाफ़े ऐंठना शुरू किया। उन्होंने उत्पादन के नये उसूल काम में लाने शुरू किये। जैसे-जैसे उद्योग-धन्धों का मशीनीकरण हुआ, वैसे-वैसे मज़दूरों से ज़्यादा कौशल और ज़्यादा मेहनत की माँग की जाने लगी। शराब के नशे में झूमता हुआ भी, किसान अपने खेत पर काम कर सकता था। और उसका अप्रगतिशील मालिक भी इससे नाराज़ नहीं होता। लेकिन फ़ैक्टरियों में शराब पीकर पहुँचने

वाले मज़दूरों से काम में नुक़सान के अलावा दूसरे नतीजे की उम्मीद नहीं थी। अस्तु, पिछली शताब्दी के ख़त्म होते-होते रूस में नशेबन्दी का ज़बरदस्त आन्दोलन छिड़ा। इस आन्दोलन की प्रेरक शक्ति न तो सरकार थी और न गिरजाघर। इस आन्दोलन के सबसे बड़े समर्थक नये उद्योगपति थे।

डॉ. निकोलाई ग्रिगोरियफ़ में उन्होंने (उद्योगपतियों ने) इस आन्दोलन का अच्छा नेता बन सकने के सभी गुण देखे। 1894 में डॉ. ग्रिगोरियफ़ ने एक पत्रिका निकाली जिसका नाम ही था **नशा-विरोधी दूत**। इसका आन्दोलन बहुत संगठित था। शराब के व्यवसाय में सरकारी पैठ को उसने अनैतिक घोषित किया, अर्थात दिनोंदिन ज़ार द्वारा शराब पर टैक्सों की बढ़ती किये जाने को उसने अनैतिक बताया। डॉ. ग्रिगोरियफ़ का मक़सद 'सरकारी कण्ट्रोल' के ढकोसले का पर्दाफ़ाश करना था। अपने प्रचार के लिए उसे पैसों की भी कभी कमी नहीं हुई।

पर आन्दोलन बुरी तरह असफल रहा। यह आन्दोलन मानो एक चट्टान पर आकर टकराया हो और टुकड़े-टुकड़े हो गया हो। यह चट्टान थी सरकार को शराब पर टैक्सों से होने वाले मुनाफ़े की। शराब पर टैक्सों से ज़ार की आमदनी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ रही थी। अमेरिका में भी आज यही हालत है। कनाडा में भी टैक्सों में बेहद बढ़ती हुई। और शराब पर कण्ट्रोल सख़्त किया गया। नतीजा : शराब की खपत और बढ़ी।

फिर भी, शराब-विरोधी तूफ़ान को रोका नहीं जा सका। 1898 में इसी मसले को लेकर ज़ार के सलाहकारों में फूट पैदा हो गयी। प्रिंस अलेक्ज़ेण्डर नामक ज़ार का एक चचेरा भाई दरबार से अलग हो गया। उसने दूसरे सरदारों को भड़काना शुरू कर दिया। उसका मक़सद साफ़ था। धनी जागीरदार होने की हैसियत से उसने परख लिया था कि नशेबाज़ मज़दूरों की तरह नशेबाज़ किसानों से भी पैदावार को नुक़सान होता है। उसने दूसरे देशों के नशा-विरोधी प्रोग्राम का अध्ययन किया। नशा-विरोधी शिक्षा-आन्दोलन के समर्थन में उसने अपनी पूरी ताक़त लगा दी।

सबसे पहले, शराब का विरोध करने वाले भिन्न-भिन्न छुट-पुट दलों को उसने एक सूत्र में बाँधा। इस संगठन का नाम "नशा निरोधक संगठन" था। अपने और अपने दोस्तों की दौलत से उसने इस संगठन को मालामाल कर दिया। उन दिनों जब रूबल की क़ीमत आधे डॉलर के बराबर थी, संगठन के पास हज़ार-दो-हज़ार नहीं, बल्कि लाख-दस-लाख रूबल थे। अब, उसने दौलत की इस ताक़त का चौतरफ़ा इस्तेमाल करना शुरू किया।

प्रिंस अलेक्ज़ेण्डर के आन्दोलन का मुख्य केन्द्र था मास्को स्थित एलेक्सिस नशा-निरोधक भवन। इस केन्द्र में शिक्षित कार्यकर्ताओं का एक बड़ा दल मौजूद

रहता था। शराब से बचाव की शिक्षा के लिए दुनिया के इस पहले वैज्ञानिक केन्द्र में ये कार्यकर्ता ही तमाम योजनाएँ बनाते और उन्हें कार्यान्वित करते। एक दूसरे घर में उन्होंने हज़ारों किताबों का पुस्तकालय बनाया था। रसायन तथा भौतिक विज्ञान सम्बन्धी प्रयोगशालाएँ भी उन्होंने खोलीं जिनमें विशेषज्ञ काम करते थे। दाम देकर वे लेखकों, अध्यापकों, खोजबीन करने वालों और वक्ताओं को बुलाते थे। शराब की समस्या के आज जो हमारे खोजबीन सम्बन्धी केन्द्र हैं, उनकी यह पहली मिसाल था। उदाहरण के लिए, येल विश्वविद्यालय के शराब सम्बन्धी अध्ययन स्कूल को ही लीजिए। वहाँ आज चिकित्सक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री, पादरी सभी मौजूद हैं जो बड़ी-बड़ी पोथियाँ थामे मानव शरीर, मस्तिष्क और सामाजिक सम्बन्धों पर शराब के असर का अध्ययन करने में जुटे रहते हैं – मानो शराबी बाप का बेटा यह सब बता सकने को काफ़ी न हो। प्रिंस अलेक्ज़ेण्डर के नशा-निरोधक संगठन ने सच्ची और काल्पनिक, दोनों तरह की, बातों का मुलम्मा तैयार किया। इस संगठन ने वह काम कर दिखाया जो येल विश्वविद्यालय के लिए अब भी बहुत दूर की चीज़ है। उसने इस मुलम्मे को बहुत ही आकर्षक रूप से करोड़ों लोगों तक पहुँचाया।

शिक्षा सम्बन्धी कार्रवाइयों को तो बहुत ही विशाल पैमाने पर शुरू किया गया। प्रिंस अलेक्ज़ेण्डर ने बूढ़ों और जवानों की सुविधा के लिए तमाम पार्कों और उद्यानों, विश्राम-गृहों की व्यवस्था कर दी। उनके लिए मनोरंजन केन्द्र, बड़े रेस्तराँ और नाटक-गृह बनवाये इनमें से ज़्यादातर स्थान ऐसे थे जिनमें पैसा ख़र्च नहीं करना पड़ता था। ये स्थान बहुत ही लोकप्रिय हुए। यद्यपि सभी तरह के लोग वहाँ आते-जाते, पर ढूँढ़े से भी शराब की एक बूँद वहाँ न मिल सकती थी। नियमित समय पर कुशल वक्ताओं के भाषण होते जिन्हें उपस्थित लोग बड़े ध्यान से सुनते। ये वक्ता शराब के बारे में वैज्ञानिक तथ्य पेश करते थे। ये कार्रवाइयाँ 1903 में शिखर पर थीं। उस साल अकेले मास्को में ही पच्चीस लाख डॉलर ख़र्च हुए। ज़ार साम्राज्य के एक कोने से दूसरे कोने तक इस संगठन की 370 शाखाएँ फैली हुई थीं।

पर नतीजा?

नतीजा : शून्य।

नशा-निरोधक कार्रवाइयों के प्रति विरोध ने 1905 में उग्रतम रूप धारण कर लिया। इसी साल राजनीतिक दमन भी उग्रता की सीमा पर पहुँच गया था। ज़ार का एक चाचा मास्को का गवर्नर जनरल था। इसका नाम था ग्राण्ड ड्यूक सर्गियस। रूस के अत्यन्त महत्वपूर्ण और निर्दयी सरदारों में उसकी गिनती थी। वह भी नशा-निरोधक संगठन में शामिल हुआ। राज-परिवार के और भी लोगों

को वह अपने साथ खींच लाया। इनमें एक ग्राण्ड ड्यूक कांस्टेण्टिन भी था। यह भी ज़ार का चाचा था। यही ईसाइयों के तथाकथित अखिल रूसी मज़दूर संगठन का व्यवस्थापक और अध्यक्ष भी था। कांस्टेण्टिन शराब को एकदम ख़त्म कर देने का समर्थक था, यानी वह पूर्ण शराबबन्दी का समर्थक था। इससे ज़्यादा बेअसर और माली प्रोग्राम की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

इन कार्रवाइयों और इन्हीं के साथ-साथ औद्योगिक शोषण के प्रति जनता की प्रतिक्रिया भी व्यक्त हुई। वह इस रूप में उग्रतम रूप में पहुँच गयी कि ग्राण्ड ड्यूक सर्गियस के सामने बम गिरा। इस हिंसात्मक घटना के बाद नशा-निरोधक आन्दोलन और ड्यूक ने अलग-अलग दिशाओं में अपना मुँह फेर लिया। न तो तमाम वक्तागण और न शराब के दुष्परिणामों के बारे में वैज्ञानिक तथ्य ही दोनों में मेल करा सके।

नशा-निरोधक शिक्षा की सफलता में सरकारी कण्ट्रोल का कितना हाथ था, इसकी जानकारी कम दिलचस्प नहीं। 1894 में शराब की बिक्री को राज्य ने अपने हाथ में ले लिया था। तब पादरियों ने नयी दुकानों को अपने आशीर्वाद से पवित्र किया था। जिस दिन नयी दुकानें खुलीं। बड़े-बड़े सरदारों और उद्योगपतियों ने ख़ुद वहाँ पधार कर वहाँ की शोभा बढ़ायी थी। उस सरकारी ख़ुदरा इज़ारेदारी (कुछ इसी तरह की व्यवस्था अब कनाडा में है) की स्थापना के पन्द्रह साल बाद क़ानूनी तौर पर वोद्का की खपत 440 लाख गैलन से बढ़कर 2,500 लाख गैलन हो गयी। शराब की फुटकर दुकानों से सरकार को 1904 से 1913 के बीच 5 अरब रूबल का मुनाफ़ा हुआ। इन आँकड़ों के महत्व को समझने के लिए एक बात और जाननी ज़रूरी है। वह यह कि : इस काल में रूसी साम्राज्य का कुल बजट 20 अरब रूबल का था। पहला महायुद्ध शुरू होने के वक़्त ज़ार सरकार की कुल आमदनी का चौथा हिस्सा शराब की बिक्री से ही आता था। इसी तरह की हालत कनाडा के अधिकांश प्रान्तों में भी है। वहाँ सालों से हालत यह है कि बजट में जो भी कमी होती है, उसे शराब के मुनाफ़े से पूरा किया जाता है।

नशा-विरोधी आन्दोलन और शराब पर सरकारी कण्ट्रोल शुरू होने के समय से 1914 तक रूस में वोद्का की बिक्री 500 प्रतिशत से भी कुछ ज़्यादा बढ़ गयी। नशेबाज़ी का आर्थिक दुष्परिणाम लोगों को और भी खटकने लगा था। काफ़ी रक़म उनकी जेब से शराब पर टैक्स के रूप में निकल जाती थी।

शराबख़ोरी के ख़िलाफ़ संघर्ष जारी रहा और इस अवधि में एक नया संगठन देखने में आया : स्कूलों में शराबख़ोरी के ख़िलाफ़ लड़ने वालों का संगठन। विश्वयुद्ध के पहले रूस में जितने नशेबाज़ थे, दुनिया के किसी भी दूसरे सभ्य

देश में उतने नहीं थे। उपरोक्त संगठन ने पूरे साम्राज्य के इस कोने से उस कोने तक छानबीन की। इस सम्बन्ध में 1913 में उसने कुछ आँकड़े प्रकाशित किये। याद रखना चाहिए कि ज़ार सरकार की क़तरब्योंत के बाद ये आँकड़े प्रकाशित हुए थे। इन आँकड़ों के अनुसार, स्कूल में पढ़ने वाले 80 फ़ीसदी से ज़्यादा बच्चे वोद्का पीने के आदी थे। लड़कियों की संख्या 60 प्रतिशत से ज़्यादा थी। एक ज़िले में कोई स्कूल था जिसमें 5,700 विद्यार्थी पढ़ते थे। उपरोक्त संगठन के कार्यकर्ता वहाँ पहुँचे। उन्होंने 2,500 विद्यार्थियों के सामने भाषण दिया। इनमें से सभी विद्यार्थी या तो पूरी तरह नशे में थे या आधे नशे में।

फ़ैक्टरी मालिकों के कहने पर मास्को की नगर काउंसिल ने दूसरी जाँच-पड़ताल की व्यवस्था की। पता चला कि मास्को के 90 प्रतिशत वयस्क गहरे नशेबाज़ हैं।

धीरे-धीरे स्थिति इस हालत को पहुँची थी। ज़ार का मन्त्री, निकोलस द क्रैमर, नशा-निरोधक आन्दोलन की कमजोरियों को 1906 में भी भाँप गया था। ज़ार के लिए तैयार की गयी अपनी अधिकृत रिपोर्ट में उसने कहा था : "यह सोचना बड़ी भारी भूल होगी कि मनोरंजन के साधन लोगों से शराब छुड़ाने में कामयाब होंगे। यह सोचना ग़लत होगा कि नाटक दिखाकर और बग़ीचों में बाजे बजवाकर लोगों से शराबख़ोरी छुड़वा दी जायेगी।" क्रैमर ने जो सुझाव पेश किये वे महत्वपूर्ण नहीं थे। पर वह अच्छी तरह देख और समझ चुका था कि नशा-विरोधी प्रचार को ऐसे लोग ही पढ़ और मान रहे थे जो पक्के सात्विक यानी शराब विरोधी हैं। हमारे देश में भी ऐसे प्रचार को ऐसे ही लोग पढ़ व मान रहे हैं। जो पियक्कड़ थे, वे प्रचार सम्बन्धी पर्चियों और पोथियों को लेते और फेंक देते। बड़े मज़े से वे प्रिंस अलेक्ज़ेण्डर द्वारा दिये जाने वाले मुफ़्त भोजन से अपना पेट भरते, मुफ़्त थियेटर देखते और जो पैसा बचता उससे ख़रीदकर वोद्का पीते। 1910 में देश-भर में हालत यह थी कि एक नशा-विरोधी कमेटी के पीछे सात सरकारी शराब की दुकानें थीं।

दमन के बावजूद शराब-विरोधी संगठनों ने 1910 में नशेबाज़ी की बला से लड़ने के लिए अखिल-रूसी कांग्रेस बुलायी। मज़दूर सभाओं ने भी इसका समर्थन किया। उन्होंने इस समस्या के सामाजिक और आर्थिक पहलुओं को उभारकर रखा। उन्होंने पार्लियामेण्ट (द्यूमा) पर भी दबाव डाला। उन्होंने माँग उठायी कि सरकारी दुकानों पर शराब की बिक्री के घण्टे सीमित करने का क़ानून बनाया जाये और दूसरे क़ानूनों को मुस्तैदी से लागू किया जाये। लेकिन इतने शोरगुल का जो नतीजा हुआ वह यह कि एक बिल पार्लियामेण्ट में पेश किया गया, जिसमें कहा गया कि वोद्का में अल्कोहल की मात्रा 50 फ़ीसदी

से घटाकर 30 फ़ीसदी कर दी जाये। यह बिल भी पास नहीं हुआ।

चार साल बाद ज़ार सरकार के लिए समस्या बड़ी संगीन बन गयी। शाही दरबार ने इंग्लैण्ड और फ्रांस के साथ सैन्य-सन्धि करने का फ़ैसला किया था। दसियों लाख फ़ौजियों की सेना को नये से नये हथियारों से लैस करने की समस्या ज़ार के सामने उपस्थित थी। अस्तु, उद्योगपतियों से मामला निबटाने के अलावा उसके सामने दूसरा कोई चारा न था।

शराब के मसले पर उद्योगपति बड़ी ज़िद पकड़े हुए थे। उनका कहना था कि राज्य शराब-टैक्सों पर अपनी निर्भरता को कम करे और अपनी नीति बदले तथा वोद्का की बिक्री में भारी कमी करे।

अतः, ज़ार ने जनवरी 1914 में एक घोषणा की। उसने कहा कि राज्य की आय में अब शराब से बढ़ती नहीं की जायेगी। उसी साल पूर्वी मोर्चे पर युद्ध की लपटें भड़क उठीं। युद्ध-काल में खन्दकों में बैठकर शराब पीना बहुत ख़तरे की बात नहीं थी; लेकिन शहर के मज़दूर और गाँव के किसान शराब पीते तो फ़ैक्टरियों और खेतों की उपज को फ़ालिज़ मार जाती। उद्योगपतियों ने दरबार के सामने नया फ़तवा पेश कर दिया।

शराबख़ोरों के लिए ख़तरे की घण्टी बज उठी। शाही और नाटकीय फ़ुर्ती से ज़ार ने घोषणा कर दी : रूस में अब शराब नहीं पी जायेगी। उसने घोषणा की कि 1 जुलाई 1916 की भोर से जो वोद्का या बीयर बनायेगा या इनकी बिक्री करेगा, वह अपराधी माना जायेगा। ज़िलाधीशों को छूट थी कि वे चाहें तो अपने हलक़ों में हल्के क़िस्म की शराब बिकवा सकते हैं।

यह घोषणा इतनी जल्दी की गयी थी और इतनी सख़्ती और बेमुरौवती से लागू की गयी थी कि रूसी लोग आँखें फाड़े देखते रह गये।

इस सम्बन्ध में कोई तामझाम देखने में नहीं आया। प्रचार भी बहुत मामूली किया गया। हतप्रभ जनता के देखते ही देखते ख़ौफ़नाक गुप्त पुलिस के इशारे पर फ़ौजी दस्ते एक के बाद एक शराब की दुकानें बन्द करने लगे। पहले से इकट्ठा माल को वे बर्बाद कर देते। शराब बनाने के अड्डों पर तो भूत लोटने लगे थे। बड़े से बड़े सरदार में शाही फ़रमान की मुख़ालफ़त करने की हिम्मत नहीं हुई। राष्ट्र के इस कोने से उस कोने तक शराब बनाने के सभी अड्डों ने फ़ौजी बूटों की धमक सुनी। फ़ौजी दस्तों ने शराब के हण्डे के हण्डे नदियों में उलट दिये। और तब शराब बनाने के यन्त्रों को वे इस तरह बर्बाद करने में जुट गये कि फिर ठीक ही न हो सकें। कुछ हफ़्तों में ज़ारशाही रूस की शराब बनाने की भारी कुव्वत तहस-नहस कर दी गयी।

रूस में इस तरह शराबबन्दी पहली और अन्तिम बार लागू की गयी।

जनता खुलकर अपने विचार भी व्यक्त न कर पायी। क्या शराब-विरोधियों और क्या शराबियों, सभी की जबान पर ज़ार की तुरत-फुरत कार्रवाई ने ताला जड़ दिया था। सोलह करोड़ लोग चुपचाप सब्र से सब कुछ देखते रहे।

अमेरिका में उसी समय जो आन्दोलन चला वह भी इसी एक तथ्य से प्रेरित था कि ज़ार के विशाल साम्राज्य में एक ही झटके में लोगों के मुँह से शराब छुड़ा दी गयी थी। यह सुनकर कि लाखों-करोड़ों गैलन बढ़िया शराब रूस में नालियों के रास्ते बहा दी गयी है, कुछ लोग तो खुशी से पागल हो उठे। अपनी प्रचार रूपी तोपों के लिए अब गोला-बारूद ढूँढ़ने की उन्हें ज़रूरत नहीं थी। शराब छुड़वाने के लिए ज़ार ने तो क़ानून का सहारा भी नहीं लिया था। चुटकी बजाते ही उसने रूस से शराब को छूमन्तर कर दिया था। ज़ार की रिआया जबरिया सात्विक बना दी गयी थी। 1916 के प्रारम्भिक महीनों में रूसियों ने शराब नहीं छुई। वोद्का के नालियों में बहा दिये जाने के बाद लाखों युवकों और बच्चों की जबान से 40 प्रतिशत अल्कोहल वाली वोद्का छूट गयी। पहले तो वे इस वोद्का की बोतलों पर बोलतें चढ़ा जाते थे। स्वाभाविक ही था कि उनके स्वास्थ्य में भी भारी सुधार हुआ।

शराबबन्दी को इस तरह पूरी सफलता मिली।

यह दशा लगभग 9 महीने तक रही।

उसके बाद?

उसके बाद लोग जैसे नींद से जागकर उठ बैठे हों। लाखों-करोड़ों लोगों को लगा जैसे प्यास से उनके गले सूखे जा रहे हों। लड़ाई के मैदान में रूसी सेना कुट्टी की तरह काटी जा रही थी। भुखमरी और बीमारी से लोग तबाह थे। चारों तरफ़ मायूसी छायी हुई थी। हरेक इन्सान बचाव का रास्ता खोज रहा था। ला-मुहाला उनका ध्यान उसी तरफ़ घूमा : शराब की तरफ़।

वे इसकी तरफ़ लपके। देखते ही देखते जैसे सारा रूस शराब में डूबने-उतराने लगा हो। ठीक उसी फुर्ती से जिस फुर्ती से ज़ार की शराबबन्दी जारी हुई थी, शराब का बाँध खुल गया। शराब, कच्ची से कच्ची शराब। किसानों ने अनाज की जगह आलू की खेती शुरू की। आलुओं को सड़ाकर जैसे भी बनता वे शराब निकालते। जर्मन आक्रमणकारी देश में घुस रहे थे। रूसी किसान बने हुए अनाज को शराब में बदल रहे थे, ताकि नक़द रक़म हाथ आये। यह कच्ची वोद्का तैयार होते ही शहरों में और फ़ौजी दस्तों के बीच बिक जाती, देर न लगती। अमेरिका में जो कुछ हुआ वह इसके मुक़ाबले कुछ भी नहीं था। कुछ ही महीनों के भीतर ज़ार की रिआया ग़ैरक़ानूनी तरीक़े से बनायी वोद्का से सराबोर हो गयी।

इस तरह बनायी गयी शराब ज़्यादातर ज़हरीली थी; ख़तरनाक रूप से

ज़हरीली। लाखों रूसी समझने लगे थे कि युद्ध अल्कोहल भले ही बहुत ख़तरनाक हो, पर गन्दे तरीक़ों से बनायी गयी यह शराब कुछ ही दिनों में अच्छे हट्टे-कट्टे आदमी को भी नाकाम बना सकती थी। यह शराब बिना किसी तरह की वैज्ञानिक निगरानी के बनायी जाती थी। इस तरह की शराब के ख़तरनाक होने का कारण अल्कोहल की मौजूदगी नहीं थी। इसका कारण यह था कि पदार्थों को बुरी और गन्दी तरह से सड़ाया जाता था और फिर उन्हें अच्छी तरह छाना तक नहीं जाता था, इसलिए यह शराब ज़हरीली होती थी।

पूर्ण शराबबन्दी का एक और उल्लेखनीय असर हुआ। वोद्का चूँकि खुले तौर पर नहीं बेची जा सकती थी, इसलिए चाय की दुकानों और बदनाम घरों में इसके अड्डे बन गये थे। वोद्का की गुप्त-बिक्री की इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप अनाचार अपना सर उठाने और पनपने लगे। शराब की बिक्री, ख़रीद या इस्तेमाल के लिए ख़ौफ़नाक सज़ाएँ मौजूद थीं। पर कट्टर से कट्टर पुलिस अफ़सर भी इन सज़ाओं का इस्तेमाल करने में हिचकते थे।

इस तरह, संगीन के बल पर पूर्ण शराबबन्दी की मूर्खतापूर्ण योजना देखते ही देखते टाँय-टाँय-फिस्स हो गयी।

इवान्जेलिक ईसाइयों के अखिल रूसी संगठन के अध्यक्ष, प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बी पादरी, रेवरेण्ड प्रोखोनौफ़ ने अमेरिका पहुँचने पर रूस की स्थिति का वर्णन इन शब्दों में किया : "शराबबन्दी से पहले हर घर में अगर एक शराबी था तो शराबबन्दी के काल में हर घर शराब बनाने वालों और पियक्कड़ों का अड्डा बन गया। क़ानून को खुल्लमखुल्ला भंग करके हर जगह लोग - मर्द और औरतें - वोद्का बनाने लगे। लोग सोने से पहले पीते, सुबह नाश्ते के वक़्त पीते, यहाँ तक कि काम करने जाते तो नशे में झूमते हुए। माताएँ अपने बच्चों को खाना परोसतीं तो उसके साथ वोद्का ज़रूर होती।"

दुनिया में सबसे सस्ती शराब

1917 की क्रान्ति के बाद ग़ैर-क़ानूनी तौर पर बनायी गयी वोद्का की खपत देहात में इतनी ज़्यादा बढ़ गयी थी कि उससे नया ख़तरा पैदा हो गया। नशे का जो असर होता है वह तो था ही, कच्ची शराब का ज़हरीलापन और भी ख़तरनाक हो गया था। अनगिनत किसान अपने घरों में शराब बना रहे थे। परिणामस्वरूप अनाज बाज़ार में न पहुँच पाता। अनाज की खपत शराब बनाने में होती। इससे अकाल ने और भी भयानक रूप धारण कर लिया।

सोवियत अधिकारी एक ही उपाय कर सके। उन्होंने आलू से वोद्का तैयार किया जाना क़ानूनी घोषित कर दिया। शराबबन्दी को उन्होंने क़ानूनी तौर पर ख़त्म कर दिया और बड़े-बड़े शराब-कारख़ानों के पुनर्निर्माण की इजाज़त दे दी। वास्तव में, यह सब जनता का स्वास्थ्य सुधारने के लिए था। उद्देश्य था बाज़ार में ज़हरीली शराब की बिक्री ख़त्म करना और भुखमरी की दशा को रोकना।

इस सम्बन्ध में उठाये जाने वाले क़ानूनी क़दमों की लेनिन और स्तालिन ने ख़ुद अच्छी तरह जाँच-पड़ताल की।

सोवियत सरकार के पास इस सम्बन्ध में तमाम तथ्यों का भण्डार था। जाँच-पड़ताल की तमाम रिपोर्टें भी उसके पास मौजूद थीं। सोवियत सरकार ने इन तथ्यों और रिपोर्टों को जन-स्वास्थ्य कमिसारियत की वैज्ञानिकों और राजनीतिज्ञों की कमेटियों के हवाले कर दिया। उसने इन कमेटियों से माँग की कि वे जल्दी-से-जल्दी अपने रचनात्मक सुझाव पेश करें।

भिन्न-भिन्न प्रकार के और एक-दूसरे के विरोधी तमाम विचारों से पाँच मुख्य धारणाओं का जन्म हुआ। इनमें से हर धारणा के अलग-अलग तमाम समर्थक हमारे देशों में आज मौजूद हैं। अस्तु, इनका संक्षेप में वर्णन अनुचित न होगा।

1. शराबबन्दी। ज़ार ने जिस सख़्ती और निर्ममता से शराबबन्दी लागू की थी, उसे सोवियत सरकार नहीं बरत सकती थी। उस काल में अमेरिका में इसी तरह का जो प्रयोग जारी था, उससे भी बुरी तरह ज़ार की शराबबन्दी योजना असफल

हुई थी। यह योजना मूर्खतापूर्ण तो थी ही, यह रूसी नैतिकता के विरुद्ध भी थी। डण्डे के बल पर रूसी किसी भी बात को मानने को तैयार नहीं थे, पर समझाने से मनाने को तैयार थे।

2. जनता की शिक्षा। सोवियत अधिकारियों ने प्रिंस अलेक्ज़ेण्डर द्वारा चलाये गये आन्दोलन का गम्भीरता से अध्ययन किया। यह आन्दोलन ऊपरी तौर पर सफल नहीं हुआ था। अधिकारियों ने देखा कि इस आन्दोलन में व्यक्ति को विशेष महत्व दिया गया था। आन्दोलन की अपील कुछ स्वार्थों से सराबोर थी। लोग निजी सन्तोष के लिए शराब पीते हैं। क्या नशाबन्दी की अपील एक दूसरे स्वार्थ - अच्छे स्वास्थ्य - को लेकर नहीं है? और यदि है, तो इसकी सफलता की उम्मीद करना क्या ग़लती न होगी? कारण कुछ भी रहे हों, ऐतिहासिक सत्य ने सिद्ध कर दिया था कि कोरी शिक्षा से राष्ट्र को शराबख़ोरी से विमुख नहीं किया जा सकता।

3. धर्म। 'अल्कोहलिक्स एनोनिमस' नामक संगठन की कार्रवाइयों में हम धार्मिक प्रचार द्वारा शराबख़ोरी छुड़ाने का प्रयत्न देखते हैं। कुछ विशेष प्रकार के लोगों के लिए तो निस्सन्देह यह अच्छा उपाय हो सकता है। पर सोवियत-शासन इस योजना का समर्थन नहीं कर सकता था। कारण स्पष्ट है। कारण यह था कि उस काल में सर्वशक्तिमान ऑर्थोडॉक्स चर्च से सम्बन्धित गाँव के पादरी ख़ुद ही अच्छे-ख़ासे पियक्कड़ थे।

4. मनोचिकित्सा। मनोचिकित्सा के उपायों को अमल में लाने की कल्पना कर सकना भी कठिन था। कारण यह कि दुनिया-भर के मनोचिकित्सक भी इकट्ठे हो जाते तो अकेले मास्को के पुराने पियक्कड़ों का इलाज करने के लिए काफ़ी न होते। अमली नज़रिये से, शराबख़ोरी के मानसिक इलाज को धार्मिक उपायों के अन्तर्गत ही माना जाना चाहिए। इसकी वजह है। वजह यह है कि इने-गिने चन्द लोगों का ही इससे भला हो सकता है। इसके प्रचारक कहते सुने जाते हैं कि इसे अगर बड़े पैमाने पर अमल में लाया जाये तो यह उपाय अवश्य सफल होगा। लेकिन, लाखों करोड़ों इन्सानों तक मनोचिकित्सा पहुँचे कैसे, यह किसी ने आज तक नहीं बतलाया। इसके अलावा, सोवियत अधिकारी अपनी सहज बुद्धि के कारण यह मानने को तैयार नहीं थे कि रूस के सभी पियक्कड़ मानसिक रोगी हैं। उनका कहना था कि मानसिक-विकारों के अलावा शराबख़ोरी के दूसरे गम्भीर कारण हैं।

5. सरकारी नियन्त्रण। सोवियत अधिकारियों ने इस उपाय के सम्बन्ध में तमाम पिछले तजुर्बों का अध्ययन किया। बिक्री पर रोक लगाने के ज़ार ने जो उपाय किये, सभी का परिणाम यह हुआ था कि शराब की बिक्री और भी बढ़

गयी थी। अन्त में, दशा यहाँ तक पहुँच गयी कि औसत आदमी के लिए $1\frac{2}{5}$ गैलन शराब की सालाना खपत होने लगी थी। सोवियत विशेषज्ञ इस नतीजे पर पहुँचे कि शराब के सरकारी नियन्त्रण से कोई लाभ नहीं होने का। इससे कोई नतीजा निकल सकता है तो यह कि शराब की खपत और भी ज़्यादा बढ़ जाये।

सोवियत विशेषज्ञों के अनुमान की सच्चाई का पता आज कनाडा के अनुभव से लग जाता है। सरकारी नियन्त्रण के बरसों तक बड़ी मुस्तैदी और सख़्ती से जारी रहने के बाद आज कनाडा में शराब की खपत और ज़्यादा बढ़ गयी है। युद्धकाल में राशनिंग व्यवस्था बहुत सख़्त हो गयी थी। पर उससे पहले भी 1941 में, कनाडा शराबियों का देश नहीं माना जाता था। पर असलियत यह है कि 1941 में कनाडावासियों के बीच 120 लाख गैलन अल्कोहल अर्थात गहरी शराब, बीयर इत्यादि की खपत हुई थी। इस तरह औसतन हर व्यक्ति एक गैलन से भी ज़्यादा शराब पीने वाला था। युद्धकालीन राशनिंग का कोई स्थायी असर नहीं हुआ। राशनिंग ख़त्म होने के बाद 1941 के मुक़ाबले शराब की खपत वहाँ दोगुनी से भी ज़्यादा बढ़ गयी। नशेबाज़ी के सिलसिले में (अर्थात शराब पीकर इधर-उधर घूमने और गिरफ़्तार किये जाने का कोई-न-कोई काम कर बैठने के सिलसिले में) दण्ड पाने वाले पुरुषों की संख्या में 40 फ़ीसदी और स्त्रियों की संख्या 60 फ़ीसदी से भी कुछ ज़्यादा वृद्धि हुई। इतने पर भी, कनाडा के शराबियों की संख्या अमेरिका के शराबियों के मुक़ाबले नहीं के बराबर है। ज़ारकालीन रूस में अन्धाधुन्ध शराबख़ोरी के दिनों में जो दशा थी, वही दशा आज उत्तरी अमेरिका की होने जा रही है। शायद उत्तरी अमेरिका इस दशा पर पहुँच भी गया है।

अपनी छानबीन ख़त्म कर चुकने के बाद सोवियत अधिकारियों ने शराबख़ोरी की व्यापक समस्या की फिर से जाँच-पड़ताल की। वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचे उसे फ़्रांसिस विलार्ड द्वारा कहे गये शब्दों से ज़्यादा संक्षेप में व्यक्त नहीं किया जा सकता। फ़्रांसिस विलार्ड ईसाई महिलाओं के नशा-निरोधक संगठन की संस्थापिका थीं और आजीवन इसकी अध्यक्षा रही थीं। उन्होंने जो कुछ कहा था, उसे भुलाया जा चुका है। फ़्रांसिस विलार्ड ने कहा : "ज़्यादातर लोग शराब इसलिए पीते हैं कि वे ग़रीब हैं। यह कहना ग़लत होगा कि वे ग़रीब इसलिए हैं कि वे शराब पीते हैं।"

शराब के बारे में यही सबसे बड़ा सत्य है। अपनी शुभेच्छाओं के बावजूद महिला संगठन की सदस्याएँ इस महान सत्य को कभी का भुला चुकी हैं। मनोविश्लेषण की गुत्थियों और उलझनों को फ़्रांसिस विलार्ड ने उठाकर एक कोने में रख दिया। उन्होंने धर्म, शिक्षा और कण्ट्रोल की लम्बी-चौड़ी बातों को

भी एक तरफ़ हटा दिया। उन्होंने शराबख़ोरी की समस्या को जड़ से पकड़ा। उन्होंने बताया कि यह समस्या एक सामाजिक और आर्थिक समस्या है। उन्होंने बताया, लोग शराब की तरफ़ तब लपकते हैं, जब वे अपने आपको चारों तरफ़ निराशा से घिरा पाते हैं। वे शराब के लिए तब ललक उठते हैं, जब वे देखते हैं कि सब तरफ़ दु:ख और दारिद्रय है तथा सन्तोष की साँस ले सकने का उन्हें कोई सहारा नज़र नहीं आता। उनके सामने सदुपदेश और शिक्षा की लम्बी-चौड़ी बातें झाड़ना तब तक व्यर्थ है जब तक जीवन की ऐसी परिस्थितियाँ तैयार न कर दी जायें, जिनमें शराब के लिए ललकने की ज़रूरत ही महसूस न हो। जिस प्रकार व्यभिचार को तब तक नहीं रोका जा सकता जब तक लोगों को वेश्यागमन की ओर धकेलने वाले तत्वों को ख़त्म न किया जाये, उसी तरह शराबख़ोरी को तब तक नहीं रोका जा सकता जब तक शराबख़ोरी की तरफ़ धकेलने वाली परिस्थितियों को ख़त्म न किया जाये।

अपनी बेबर्दाश्त ग़रीबी और दरिद्रता के कारण ही ज़ार की रिआया शराबख़ोरी की ओर लपकती थी। मद्यपान-समस्या का अध्ययन करने वाले सोवियत विद्यार्थी समझ गये थे कि आम जनता के जीवन में चौतरफ़ा उन्नति के द्वारा ही इस समस्या को हल किया जा सकता है।

उनका एक दूसरा बुनियादी निष्कर्ष यह था कि अलग-अलग व्यक्ति यदि जीवन की परिस्थितियों के कारण शराब की ओर लपकते हैं, तो समूचे राष्ट्र को शराबी बनने के लिए बढ़ावा इसलिए दिया जाता है कि सरकार को शराब पर करों से अच्छा-ख़ासा मुनाफ़ा होता है।

तो फिर, सोवियत अधिकारियों ने कौन से अमली क़दम उठाये?

तलाक़ और भ्रूण-हत्याओं के सम्बन्ध में उठाये गये क़दमों की तरह, सोवियत अधिकारियों के शुरू-शुरू के नशा-विरोधी क़दम भी एक-दूसरे के विरोधी मालूम होते हैं। 1926 में सोवियत सरकार ने एक घोषणा की। इस घोषणा ने सबको चौंका दिया।

सोवियत अधिकारियों ने घरेलू शराब बनाने वालों को बाज़ार से खदेड़ भगाने का फ़ैसला कर लिया था। साथ ही, उन्होंने शराब पर टैक्सों को ख़त्म कर देने का भी फ़ैसला कर लिया था।

यह काम एक ही दिन में पूरा कर लिया गया। किन्तु, ज़ार की तरह फ़ौजी मदद से यह काम पूरा नहीं किया गया था। जो साधारण उपाय काम में लाया गया वह देखने में बड़ा हास्यास्पद लगता है। उपाय यह था कि शराब पर टैक्स उठा दिये गये और फुटकर शराब की क़ीमत घटाकर 9 आने बोतल कर दी गयी।

शराबी लोग दाँतों तले जीभ दबाकर रह गये। सोवियत सरकार की उपरोक्त

घोषणा के साथ-साथ सोवियत अखबारों ने शराब के व्यवसाय में ज़ार सरकार के हिस्से के बारे में भी तथ्य छापे। इन तथ्यों से पता चल गया कि पुरानी सरकार को अनगिनत रुपया शराब की मद में दिया गया था। इन तथ्यों को छापने से जनता पर जिस प्रभाव की कल्पना की गयी थी, वही पड़ा भी। शराब पीने वालों और न पीने वालों, सभी पर अच्छा असर हुआ। उनकी समझ में आ गया कि अब उनकी सरकार शराब से मुनाफ़ा नहीं बटोरना चाहती। फुटकर शराब की बिक्री पर ज़रूर थोड़ा-सा कर था। पर इस कर को, शराबखोरी से लड़ने के लिए, जनता के स्वास्थ्य और शिक्षा सम्बन्धी अधिकारियों को सौंप देने की पहले से ही व्यवस्था कर दी गयी थी।

जनता की उत्सुकता बढ़ रही थी। क़ीमतों में चौंका देने वाली कमी की गयी थी। जिस दिन से क़ीमतों में कमी शुरू हुई थी, वह दिन खुद-ब-खुद राष्ट्रीय त्योहार का दिन बन गया था। उस दिन लोगों ने जी भरकर नयी, सस्ती, बढ़िया क़िस्म की वोद्का पी। पर उस दिन से घरेलू और छिपकर शराब बनाने वालों और बेचने वालों की बधिया बैठने लगी।

खुशी और उत्साह की पहली लहर थमते ही अधिकारियों ने और भी नियमों की घोषणा की। घोषणा यह थी : अब फ़ैक्टरियों के पड़ोस में शराब नहीं बेची जायेगी, छुट्टियों के दिन या तनख़्वाह के दिन भी वहाँ शराब नहीं बिकेगी। घोषणा की गयी कि जो कोई भी नवयुवकों या नशा किये हुए लोगों को शराब बेचेगा उसे पुलिस सख़्त सज़ा देगी।

रूस के एक कोने से दूसरे कोने तक नये तरह का प्रचार शुरू हुआ। शराबखोरी के ख़िलाफ़ यह नया वैज्ञानिक आन्दोलन था। नशा-निरोधक संगठनों के प्रयत्नों से यह सिद्धान्ततः भिन्न था। शराब के व्यक्तिगत प्रभावों का इसमें कभी-कभी ही ज़िक्र किया जाता।

हाँ, अल्कोहल के सम्बन्ध में "वैज्ञानिक तथ्यों" को बड़े स्पष्ट रूप से और बिना बढ़ाये-चढ़ाये पेश किया जाता।

सोवियत वैज्ञानिकों ने बताया कि अल्कोहल का वही असर होता है जो हल्के नारकोटिक का। इससे थकावट दूर होती है। यह कभी-कभी लाभदायक भी होता है। बेहोशी लाने में यह उपयोगी होता है। दिमाग़ में यह सुस्ती लाता है और नसों को ढीला करता है। साधारण उपयोग से यह मेहनतकश की फुर्ती को बनाये रखता है। लेकिन लगातार शराब पीते रहने से ख़ून में शुद्ध वायु के संचार को नुक़सान पहुँचता है। इससे दिमाग़ की नसों को गहरी क्षति पहुँच सकती है। कितने ही मस्तिष्क-रोग अल्कोहल के प्रयोग से ही पनपते और बढ़ते हैं। अन्त में, ज़्यादा शराब पीने से थकावट महसूस होती है, दुर्घटनाएँ होने और अक्सर बीमार पड़

जाने की सम्भावना रहती है। संक्षेप में, रूसी जनता को बताया गया कि शराब पीना आवश्यक नहीं है। उसे बताया गया कि शरीर या मस्तिष्क पर इसका कोई लाभदायक असर नहीं होता। अलग-अलग लोगों पर इसका अलग-अलग प्रभाव होता है; हाँ, इससे भला किसी का नहीं होता।

जनता के सामने जिस तरीक़े से ये तथ्य पेश किये गये, वह नया ही तरीक़ा था। इस सिलसिले में नाटक-घरों और चलचित्रों का पूरा-पूरा उपयोग किया गया। नाटकों और चलचित्रों के ज़रिये रूसी जनता को बतलाया जाता कि नये औद्योगिक और खेतिहर राष्ट्र की उन्नति के लिए उनके नित्यप्रति के प्रयत्नों पर अल्कोहल का क्या असर पड़ता है। बालकों, नवयुवकों और बड़ों को बड़े रोचक ढंग से बताया जाता कि उनके भविष्य-निर्माण में शराबखोरी का क्या असर पड़ेगा। इंजन चलाने वालों, ट्रैक्टर चलाने वालों, मशीन ठीक करने वालों, बिजली के कारख़ानों के इंजीनियरों, विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों, खदानों से कोयला निकालने वाले मज़दूरों - सभी को बताया जाता कि शराब का उनके काम पर कैसा असर पड़ेगा।

इन कहानियों में अपनी दुर्दशा खुद ही करने के लिए शराबी की आलोचना न की जाती थी। उसे मूर्ख व्यक्ति के रूप में पेश किया जाता। फिर उसे यह दिखाने की कोशिश की जाती कि देश के नव-निर्माण में भाग लेने से जीवन में कितना आनन्द आता है। किसी ने नहीं कहा था : तुम शराब मत पियो। पियक्कड़ को पापी के रूप में पेश नहीं किया जाता था। हाँ, समाज को नुक़सान पहुँचाने वाला वह बड़ा ही हास्यास्पद व्यक्ति मालूम होता।

यह सरकारी रवैया आदती पियक्कड़ों की ओर नहीं अपनाया गया। उनके लिए शराब-विरोधी आन्दोलन के पास दूसरा ही उपाय था। शराब को अपराधी तो नहीं क़रार दिया गया था, पर वह राष्ट्र की उन्नति के रास्ते में रोड़ा ज़रूर था। वोद्का की बोतल जब लगभग 9 आने की दर पर बिक रही थी तो राष्ट्र की उन्नति की बातें सुनने की उसे फ़ुर्सत ही कैसे मिलती।

इन लोगों को ठीक रास्ते पर लाने के लिए वैसे ही उपायों का प्रयोग किया गया, जैसे उपाय वेश्यावृत्ति को क़ाबू में लाने के लिए इस्तेमाल किये गये थे। अधिकारियों ने सभी अड्डों पर जहाँ शराबखोरी की समस्या ज़्यादा संगीन थी, शराब-विरोधी केन्द्र क़ायम कर दिये। जो कोई भी नशे की हालत में मिलता उसे पुलिस या वोद्का-विरोधी आन्दोलन के कार्यकर्ता इन केन्द्रों में पहुँचा देते। वहाँ पहले तो शराबी को अच्छी तरह नहलाया जाता। फिर एक डॉक्टर उसकी जाँच करता। इसके बाद उसे बिस्तर पर लिटा दिया जाता और होश में आने के लिए एक या दो दिन पूरी तरह आराम करने दिया जाता।

इस सुन्दर उपचार के बाद शराबी का नाम और पता पूछा जाता। वह कहाँ काम करता है, लिख लिया जाता। अब उसे केन्द्र से छुट्टी दे दी जाती। जहाँ भी वह काम करता होता, वहाँ की मज़दूर-सभा के पास उसके बारे में पूरी रिपोर्ट भेज दी जाती। इस तरह के लोगों से निबटने के लिए मज़दूर-सभाओं ने विशेष कमेटियाँ बना रखी थीं। शराबी की केन्द्र से छुट्टी होने के बाद इस कमेटी की बैठक होती। शराबी जब काम पर वापस पहुँचता तो यह कमेटी उसका 'स्वागत' करती। कमेटी के साथ बहुधा एक लम्बा-चौड़ा इश्तिहार भी उसे अपने स्वागत के लिए तैयार मिलता। इस इश्तिहार पर उसकी फ़ोटो तथा व्यंग्यचित्र मौजूद रहता। उसका नाम और पता तो होता ही। बोतल से उसकी यारी का भी नाटकीय और मनोरंजक वर्णन मौजूद रहता। शराबी अगर दोबारा-तिबारा अपनी पुरानी हरकत दोहराता, तो जनता उसका और तिरस्कार करती। कुछ ऐसे लोग भी थे जो बार-बार नशे की हालत में पकड़े जाते और केन्द्रों में पहुँचाये जाते। ऐसे लोगों के ख़िलाफ़ मज़दूर-सभाओं और जन-संगठनों ने सख़्त अनुशासनात्मक कार्रवाइयों का क़दम उठाया।

शराब-विरोधी आन्दोलन के दौरान शराबियों के बीच जितनी भी पर्चियाँ बाँटी गयी थीं, उन सबके मुक़ाबले बड़े इश्तिहार वाली योजना कहीं ज़्यादा कारगर साबित हुई। पहले तो शराबी को सिर्फ़ यही चिन्ता रहती थी कि कहीं घर पर लड़ाई न हो जाये, या कहीं पकड़ न लिया जाऊँ। इस बड़े इश्तिहार ने उसकी चिन्ता को कहीं ज़्यादा बढ़ा दिया था। अब तमाम दोनों के सामने जलील होने का ख़तरा था। ख़तरा यह था कि सब कहेंगे : तू देश की उन्नति के रास्ते में रोड़ा है।

यह सुधार का एक ऐसा तरीक़ा साबित हुआ जिसने हज़ारों लोगों को ठीक रास्ते पर ला दिया।

कुछ ही सालों में यह आन्दोलन सफल होने लगा। शराबख़ोरी को ख़त्म करने में इसने काफ़ी सफलता हासिल की थी। इसने ऐसे पियक्कड़ों को चुन-चुनकर अलग कर दिया, जिनके लिए शराबख़ोरी एक मानसिक रोग था। वोद्का के उपासकों में इनकी संख्या 1 प्रतिशत से कम थी। इन्हें अल्कोहल का इलाज करने वाले सुव्यवस्थित अस्पतालों में दाख़िल कर दिया गया। इन अस्पतालों में रखकर उनका इलाज शुरू किया गया और उन्हें हर तरह की मानसिक-शारीरिक सहायता दी गयी। अधिकांश शराबियों के लिए तो यही इलाज सबसे अच्छा साबित हुआ कि उन्हें शराब-विरोधी केन्द्रों में पहुँचा दिया जाये और दूसरे दिन उनकी 'प्रशंसनीय' कारगुज़ारियों का बड़ा इश्तिहार निकाल दिया जाये।

सोवियत सरकार ने शराब-निरोध के लिए जो कुछ और उपाय अपनाये उन्हें देखकर पहले तो यही लगता था कि वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं होंगे, कि उनका परिणाम उद्देश्य का ठीक उल्टा होगा। उदाहरण के लिए, सरकार ने जलपान-गृहों और खान-पान के दूसरे स्थानों में शराब के ज़्यादा इस्तेमाल किये जाने के लिए ज़ोरों से आन्दोलन चलाया। अल्कोहल की तरफ़ लपकने के लिए जो कारण उकसावा देते हैं, उन कारणों को ख़त्म करने के लिए सोवियत मनोवैज्ञानिकों ने यह उपाय तदबीजा था। देखने में यह बात ज़रूर कुछ आश्चर्यजनक लगती है कि खाने-पीने की जगहों में शराब का इस्तेमाल बढ़ाया जाये। यह भी लगता है कि यह तो शराबख़ोरी को बढ़ावा देना है और इस तरह एक अप्रगतिशील क़दम है। पर भोजन के साथ शराब को बढ़ावा देने से लाभ यह था कि इस तरह शराब पीना कम हानिकारक होता है। इसका उद्देश्य यह था कि लोग सरायों या शराब की दुकानों पर शराब पीना छोड़ें, क्योंकि वहाँ सिर्फ़ शराब ही मिलती है। और अकेली शराब, निस्सन्देह, बहुत हानिकारक होती है। दूसरे, शराब के सरकारी कण्ट्रोल तथा शराबबन्दी योजना के पुराने तजुर्बे साफ़ सिद्ध कर चुके थे कि भोजन के साथ शराब का इस्तेमाल वे लोग ही नहीं कर पाते हैं, जो ज़्यादा ग़रीब होते हैं। ग़रीबी ही लोगों को अल्कोहल की तरफ़ धकेलती है और उन्हें शराब का आदी बना देती है। ग़रीबी उन्हें मजबूर कर देती है कि या तो वे शराब ही पी लें या खाना ही खा लें। और अक्सर खाना ही छूट जाता।

वातावरण का भी गहरा असर पड़ता है। सोवियत सरकार द्वारा बनाये गये नये क़ानूनों के अन्तर्गत अब शराब ऐसे जलपान-गृहों में मिलती थी जहाँ परिवार के परिवार भोजन करते थे और जहाँ का वातावरण घरेलू होता था। इससे पीने वालों के व्यवहार और आदतों में भारी सुधार हुआ। वे अब पीते भी कम थे, क्योंकि साथ में खाना भी खाना होता था। स्त्रियों, बच्चों और अपने से छोटों की उपस्थिति में अपने आपको क़ाबू में रखने की उन्होंने आदत डाली। इस तरह ऊपरी तौर पर तो सोवियत सरकार ने शराब को बढ़ावा दिया। पर इसका नतीजा हुआ उल्टा ही : शराबख़ोरी घटी – और काफ़ी तेज़ी से घटी।

इस नीति के बीस साल तक जारी रहने के बाद सोवियत रूस में अब स्थिति क्या है? जब मैंने सोवियत रूस का भ्रमण किया तो सोवियत नागरिकों के जीवन के इस पहलू का नज़दीक से अध्ययन करने की कोशिश की। मैंने और मेरी पत्नी ने इस सम्बन्ध में जो रिपोर्ट तैयार की थी नीचे उसी का एक अंश पेश किया जा रहा है :

युद्ध-काल में कनाडा में कहानियाँ ये प्रचलित थीं कि सोवियत रूस के लोग गहरे पियक्कड़ हैं! सोवियत रूस में मेहमान होने की हैसियत से हमें इन बातों

की दिन-रात अच्छी तरह छानबीन करने का मौक़ा मिलता रहा। अपने आस-पास के लोगों को हमने देखा। अपने पास उठने-बैठने वालों को देखा। रास्ता चलते लोगों का हमने अध्ययन किया। जहाँ भी गये, हमने इस पहलू से लोगों की ज़िन्दगी को देखने की कोशिश की।

सोवियत नागरिक अतिथि-सत्कार में बड़े ही कुशल हैं। हमारे सत्कार में सामूहिक खेत वाले एक गाँव से लेकर मास्को के एक होटल तक छोटी और बड़ी हर क़िस्म की दावतें होती रहीं। इन सभी मौक़ों पर शराब पेश की गयी। आमतौर पर बीयर और वोद्का लायी गयी।

हम लोगों को बताया गया था कि इन अवसरों पर वोद्का न चखना मेजबान का अपमान माना जाता था। शराब की तरफ़ हम लोगों का रुख़ क्या है, इसे हमने उन लोगों पर ज़रा भी प्रकट नहीं होने दिया था। हमने क्या देखा?

हमने देखा कि अतिथि का स्वागत करने के लिए **बहुधा** जो लोग खड़े होते वे या तो **पानी का गिलास या फलों के रस का गिलास** हाथ में लिये होते। बाद में जब खाना परोसने वाले अलग-अलग क़िस्म के पेय पदार्थ लाते, तो लोग स्पष्ट इंगित कर देते कि वे या तो बीयर या हल्के क़िस्म की शराब पियेंगे।

आमतौर से यदि हम लोग और सोवियत मेहमान कहते कि हम सिर्फ़ पानी या बिना अल्कोहल वाला कोई पेय पियेंगे, तो यह क़तई आश्चर्य की बात न समझी जाती।

हमने तमाम जलपान-गृहों और छोटे-बड़े होटलों में भोजन किया। इनमें से लगभग आधों में शराब पेश की गयी। हमने क़िस्म-क़िस्म के हज़ारों सोवियत नागरिकों को खाते-पीते देखा। पर, एक बार भी हमने खाना खाते वक़्त या सड़कों पर चलते वक़्त किसी व्यक्ति को नशे में झूमते नहीं देखा। हमें बताया गया कि यहाँ भी ऐसे लोग हैं जो नशे में धुत हो जाते हैं। निस्सन्देह, उनकी संख्या कनाडा के मुक़ाबले बहुत कम होगी।

शराब निकालने के स्थानों, ख़ालिस शराब बेचने के स्थानों या सरायों के बारे में स्थिति क्या थी? हमने अपने साथ के सोवियत नागरिकों से रूस पहुँचने के प्रारम्भिक दिनों में ही इच्छा प्रकट की कि हम उन स्थानों को देखना चाहते हैं जहाँ ख़ालिस शराब (साथ में खाना-पीना नहीं) मिलती है। हमें ऐसा लगा कि कोई जानता ही नहीं कि ऐसे स्थान कहाँ हैं।

"ऐसी जगहें हैं तो" – लोगों ने हमें बताया। उन्होंने हमसे कहा – "रास्ते में ऐसी जगह मिल गयी तो हम आपको दिखा देंगे।"

कीव नगर में हमने एक टैक्सी-ड्राइवर से पूछताछ की। वह अपना सर खुजलाने लगा। "मेरे ख़याल से है तो एक," उसने कहा। "पहले तो ऐसी

बहुत-सी जगहें थीं, पर अब कोई वहाँ जाता नहीं।"

दूसरे दिन शाम का ज़िक्र है। उसने टैक्सी को एक तरफ़ को मोड़ा। वह एक सोवियत मयख़ाना था। देखने में बड़ा ही अनाकर्षक। यूँ समझिए कि कनाडा की किसी पुरानी मछली और आलू-चिप्स की दुकान की तरह। अन्दर चार मेजें रखी थीं। रात को 9 बजकर 35 मिनट का वक़्त था। अकेला एक शख़्स बैठा वोद्का पी रहा था। शक्ल से वह लड़ने पर उतारू मालूम होता था। मगर भौंहें चढ़ाये क्लर्क से उसे कोई उकसावा ही नहीं मिल रहा था।

हमें अल्कोहल-विरोधी किसी बड़े आन्दोलन के चिन्ह नहीं मिले। पर, वोद्का के ख़िलाफ़ शिक्षा प्रचार जारी है – ख़ासतौर से नवयुवकों के बीच। बीस-तीस साल की उम्र के ज़्यादातर लोग वहाँ किसी ख़ास मौक़े पर ही शराब पीते हैं। बहुत से तो कभी अल्कोहल छूते ही नहीं।

उनका रवैया कनाडा के शराब-विरोधी खाकसारों का-सा नहीं है। "जी नहीं; धन्यवाद!" इतना कहकर वे अपना रुख़ प्रकट कर देते हैं, और शराब लेने से इन्कार कर देते हैं। ठीक उसी तरह समझ लीजिए जैसे हमारे यहाँ के लोग, "जी नहीं; धन्यवाद, मैं सिगरेट नहीं पीता", कहकर सिगरेट लेने से इन्कार कर देते हैं।

हम पहले ही बता चुके हैं कि सोवियत रूस में तलाक़ों की दर बहुत घट गयी है और अपराधियों की संख्या भी घटती जा रही है। नैतिकता का पूरी तरह अध्ययन कर सकने के लिए एक महीने का वक़्त बहुत कम था। पर हमने अपने आँख-कान खुले रखे और इस सम्बन्ध में लोगों से बातचीत भी की।

हम जिस नतीजे पर पहुँचे उसे हम दावे के साथ पेश करते हैं। हम समझते हैं कि कनाडा और अमेरिका के मुक़ाबले समाजवादी दुनिया में नैतिकता का स्तर कहीं ज़्यादा ऊँचा है। हमें पूरा विश्वास है कि कोई ईमानदार डॉक्टर, पादरी, सामाजिक कार्यकर्ता या न्याय पण्डित भी इसी नतीजे पर पहुँचेगा।

जहाँ तक हम समझ पाये हैं, इस स्थिति के भी कारण वे ही हैं जो शराबख़ोरी और धूम्रपान में कमी के कारण हैं। किन्तु, हम अधिक स्पष्टता से बात कहना चाहते हैं।

समाजवाद ने मुनाफ़ाख़ोरी को जड़ से उखाड़ फेंका है। दूसरों के श्रम से मुनाफ़ा पैदा करना और अपनी जेबें भरना समाजवादी देश में अपराध माना जाता है। इस बात ने ही दूसरों की अनैतिक कमजोरियों का फ़ायदा उठाकर मुनाफ़े कमाने की गुंजाइश को सदा के लिए ख़त्म कर दिया है।

क्या हमारा यह कथन आपको आश्चर्यजनक मालूम होता है? क्या आप इसे अमान्य समझते हैं? हम यही कहेंगे कि समाजवादी देश में आँखों देखी हुई

सच्चाई ही इस कथन का सबसे बड़ा और अकाट्य सबूत है।

उदाहरण के लिए, इसी बात को लीजिये : किसी भी सोवियत विज्ञापन, चित्र, पुस्तक, पत्रिका, नाटक या चलचित्र में काम-वासना को भड़काने वाली बातें इस्तेमाल करके **मुनाफ़ा कमाने की गुंजाइश ही वहाँ नहीं है।** उत्तरी अमेरिका की तरह वहाँ विज्ञापनों का बवण्डर नहीं खड़ा किया जाता। झूठे विज्ञापनों द्वारा लोगों की अनैतिक भावनाओं को उकसाकर उत्तरी अमेरिका के धन्ना सेठ लाखों का मुनाफ़ा खड़ा कर रहे हैं।

सोवियत रूस में इस सबकी कोई गुंजाइश नहीं। सोवियत रूस में न तो कोई उद्योग ऐसा है, न सेठों का संगठन जो अपने लिए मुनाफ़े खड़ा कर रहा हो। इसलिए वहाँ इस बात की ज़रूरत नहीं कि लोगों को भरमा कर किन्हीं ख़ास चीज़ों को उनके गले मढ़ा जाये।

और जब अनैतिकता, अनाचार या काम-वासना सम्बन्धी बातों का प्रचार ही नहीं होता तो स्वाभाविक ही जनता अनैतिकता के विषैले धुएँ में नहीं घुटती। हाँ, पूँजीवादी देशों में अवश्य यही प्रचार युवकों और बच्चों के दिलों और दिमाग़ों में भरा जाता है।

परिणामस्वरूप, सोवियत रूस जाने वाला कोई भी जागरूक व्यक्ति इस बात को देखे और माने बिना नहीं रह सकता कि वहाँ के बच्चे और युवक काम-वासना सम्बन्धी समस्या की परेशानियों से मुक्त हैं।

बच्चों की समस्या

"किसी की हत्या मत करो। चोरी मत करो।"

सदा से हमारे धर्म-ग्रन्थ यही कहते आये हैं। किन्तु अपराध के खिलाफ़ संघर्ष बाइबिल के "दस आदेशों" से भी पुराना है। युगों तक के संघर्ष का फल असफलता के अलावा और कुछ नहीं निकला। आज का युग विज्ञान का युग है। लगभग सभी रहस्यों में विज्ञान ने पैठने की कोशिश की है। अपराधों के सम्बन्ध में बेल्जियम के ए. क्वेतलेत नामक एक विशेषज्ञ ने 1936 में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पेश किया। ब्रूसेल्स से प्रकाशित होने वाले 'एसे द फ़िजीक सोश्येल' में उन्होंने "मनुष्य और उसकी भावनाओं का विकास" नामक लेख लिखा। इस लेख में उन्होंने कहा है :

"प्रत्येक अपराध का बीज समाज में मौजूद होता है। समाज ही उन परिस्थितियों को जन्म देता है जिनसे अपराध के लिए इन्सान को बढ़ावा मिलता है। कहा जा सकता है कि समाज ही अपराधों की तैयारी करता है। अपराधी तो निमित्त मात्र होता है। अस्तु, समाज की प्रत्येक अवस्था में अपराधियों की संख्या व उनका व्यवहार पूर्वनिश्चित होता है क्योंकि अपराधी व अपराध दोनों ही उस व्यवस्था के आवश्यक परिणाम होते हैं।"

अपने इस कथन को बड़ा क्रान्तिकारी समझकर क्वेतलेत तुरन्त ही सफ़ाई के लिए लपके। उन्होंने कहा, "मेरा कथन ऊपर से देखने में निराशाजनक मालूम होता है। पर, गम्भीरता से विचार करने पर इसी में आशा का प्रकाश मिलेगा। उपरोक्त कथन इस बात की सम्भावना की ओर साफ़ निर्देश करता है कि यदि मनुष्य की समाज-संस्थाओं, आदतों, शिक्षा-दीक्षा तथा उसके जीवन पर प्रभाव डालने वाली दूसरी चीज़ों को बदल दिया जाये तो निस्सन्देह उनके जीवन में सुधार हो सकता है।"

किन्तु न तो क्वेतलेत और न उनके अनुयायी ही उन परिवर्तनों का सुझाव पेश कर सके, जिनसे मनुष्यों को सुधारा जा सके। शराब-समस्या पर फ़्रांसिस विलार्ड

के शब्दों की तरह क्वेतलेत की बात को भी स्वीकार किया गया – सिर्फ़ इसलिए कि इसे बाद में भुला दिया जाये। क़ानून के तमाम पण्डितों का ध्यान अपराध के दण्ड पर केन्द्रित रहा, न कि अपराध के कारणों पर।

पिछले सौ वर्षों के दौरान विज्ञान सिद्ध कर चुका है कि अपराध के लिए ज़िम्मेदार समाज है, न कि व्यक्ति। लेकिन, इस पूरे काल में हमारी क़ानून-व्यवस्था का रुख़ दूसरा ही रहा। क़ानून ने व्यक्ति को ही ज़िम्मेदार ठहराया। न्याय पण्डितों ने सोचा कि दण्ड का मन्त्र ही वह मन्त्र है जिसके द्वारा हम अपराधी से अपराध छुड़वा देंगे।

पर दण्ड का मन्त्र व्यर्थ साबित हुआ। हमारे क़ानूनविज्ञों ने इस बात को माना भी। माना इस तरह कि अपराधों के लिए दिये जाने वाले दण्डों की कठोरता को उन्होंने कम किया। उन दिनों के मुक़ाबले अब हम लोग काफ़ी आगे बढ़ चुके हैं जब खरगोश चुराने का दण्ड फाँसी दिया जाता था या दिमाग़ ख़राब हो जाने पर कोड़ों की मार से प्राण निकाल दिये जाते थे। किन्तु अभी भी पूरी तरह सही दृष्टिकोण नहीं अपनाया जा सका है। यह तो माना जाने लगा है कि अपराधों का जन्म सामाजिक कारणों से होता है, पर अपराधों को मिटाने या कम करने के लिए अपराधी को ही घेरा जाता है। और, अपराधियों को लाख घेरने पर भी अपराधों की संख्या बढ़ रही है और नये क़िस्म के अपराधों का जन्म हो रहा है।

अपराधियों को दण्ड देकर अपराधों को ख़त्म करने के तर्क को नाज़ियों ने अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँचा दिया था। फ़्रीजलर नाम का व्यक्ति हिटलरी जर्मनी का न्यायमन्त्री था। अपराधों को ख़त्म करने के बारे में उसने हिटलरी सिद्धान्त की विवेचना करते हुए कहा : "दण्ड को इतना कठोर बना दिया जायेगा कि लोग दुबारा जेल का मुँह देखने की इच्छा ही न करेंगे।" दरअसल यह "ख़ून के बदले ख़ून" वाला ही सुझाव था। सभ्य पुरुषों को यह घृणास्पद लगता है। किन्तु पुलिस अदालतों में कुछ ही दिनों उठने-बैठने पर आपको मालूम हो जायेगा कि हमारे क़ानून मुख्य रूप से दण्ड और बदले के सिद्धान्त पर ही आधारित हैं।

ईसाइयों के पूज्य देवता ईसा मसीह ने कहा था : "दूसरे को दण्ड मत दो। तुम दूसरे को दण्ड दोगे तो तुम्हें भी दण्ड भुगतना पड़ेगा।" इस कथन को भुला दिया गया है।

अपराध सम्बन्धी हमारे तथाकथित "वैज्ञानिक" स्कूलों में अधिक मानवतापूर्ण व्यवहार होता है। पर वे भी व्यर्थ साबित हुए हैं। पिछले 50 वर्षों के दौरान, अपराधियों के मस्तिष्क के तमाम विश्लेषण पेश किये जा चुके हैं। कुछ लोगों ने, निस्सन्देह, सामाजिक कारणों को ही अपराध के लिए दोषी ठहराया है। पर ये बातें सिर्फ़ दिखावटी रही हैं। वास्तव में, उन्होंने व्यक्ति को ही महत्व दिया

है और बताया है कि यदि अपराधी की फलाँ-फलाँ गिल्टियों को ठीक कर दिया जाये तो वह अपराध नहीं करेगा। अपराध के सम्बन्ध में डॉक्टरी खोजबीन करने वाला भी अपराधी को स्वस्थ करना चाहता है – लेकिन बिना अपराध के कारणों को मिटाये हुए। यह तरीक़ा उसी तरह अवैज्ञानिक है जैसे इन्द्रिय-रोग से पीड़ित किसी वेश्या को ठीक कर देने के बाद फिर उसे अपने काम पर वापिस कर देने का तरीक़ा।

ज़ारशाही रूस में जो रुख़ व्यभिचार और शराब के सम्बन्ध में अपनाया गया था, क्रान्तिपूर्व रूस में अपराध के प्रति भी वही रुख़ था। अपराध सम्बन्धी रूसी अदालतें प्राय: जो दण्ड देती थीं, वह यह कि साइबेरिया में कठोर श्रम के लिए भेज दें या अँधेरे तहख़ानों में बन्द कर दें; कोड़ों की मार और तरह-तरह की दूसरी यातनाएँ भी दी जाती थीं। रूसी साम्राज्य का प्रत्येक पुलिस अफ़सर, न्यायाधीश, वकील और जेल का पहरेदार जानता था कि दण्ड देकर अपराधों को कम करने वाले सिद्धान्त ग़लत हैं, पर जब कभी भी मौक़ा पड़ता वे ख़ुद कठोर से कठोर दण्ड देने से न चूकते।

क्रान्ति से बीस साल पहले ज़ारशाही का दुराचारी बालकों पर सबसे ज़्यादा प्रकोप था। उन दिनों 10 साल से 17 साल की उम्र के अपराधियों की संख्या लगभग दोगुनी हो गयी थी। आवारा, चोर, शराबी, बीमार, व्यभिचारी बालकों की फ़ौज की फ़ौज खड़ी हो गयी थी। चोरी के लिए ज़बरदस्ती हत्याओं की संख्या तो बेहद बढ़ गयी थी।

क्रान्ति के बाद, दूसरी गम्भीर समस्याओं में उलझे रहने के कारण 1922 तक सोवियत सरकार अपराध-प्रवृत्ति के ख़िलाफ़ संगठित हमला न शुरू कर सकी। 1922 में पहला सोवियत "अपराध क़ानून" प्रकाशित हुआ। यह क़ानून-व्यवस्था समाज और अपराध के वैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित थी। सोवियत संघ के प्रमुख सरकारी वकील ए. विशिन्स्की इस सम्बन्ध में कहते हैं :

"आम जनता की कंगाली की स्थिति, बेरोज़गारों की लम्बी-चौड़ी सेना, समाज के प्रतिष्ठा-प्राप्त वर्गों में भ्रष्टाचार का बोलबाला, टुटपुँजिये व्यापारियों की अन्धाधुन्ध सट्टेबाज़ी और बड़े व्यापारियों की मुनाफ़े के लिए उड़ानें, इनके साथ ही लगी-लिपटी हज़ारों क़िस्म की तिकड़में, जालसाज़ियाँ और धोखेधड़ी की करतूतें – ये ही वे जड़ें हैं, जिनसे अपराध पनपते और फलते-फूलते हैं। अस्तु, तमाम अपराधों के लिए ज़िम्मेदार सामाजिक सम्बन्धों की उस व्यवस्था को ही ठहराया जाना चाहिए जिसके अन्तर्गत व्यक्तिगत सम्पत्ति ही सबसे बड़ी चीज़ है और लोग असंख्य क़िस्म की बुराइयों और व्यभिचारों को धड़ल्ले से बढ़ावा देते हैं।"

रोम के सुप्रसिद्ध कानून-निर्माताओं के समय से लेकर अब तक जितने भी क़ानून प्रकाशित हुए थे, सोवियत अपराध-क़ानून उन सबसे भिन्न था। इसकी सबसे बड़ी ख़ूबी यह थी कि यह सामाजिक सम्बन्धों की नयी व्यवस्था के लिए बनाया गया था। इस नयी व्यवस्था में निजी काम-काज की चीज़ों को रखने की इजाज़त तो थी, पर निजी-सम्पत्ति नाम की चीज़ को इज़्ज़त की नज़रों से नहीं देखा जाता था। इस तरह की निजी सम्पत्ति जुटाना वास्तव में अनैतिक माना जाता था। इसीलिए अपराध-क़ानून का ख़ास सम्बन्ध चोरी करने वालों, जालसाज़ी करने वालों या तिकड़में रचने वालों को दण्ड देने से इतना ज़्यादा नहीं था जितना उन्हें यह समझाने से कि अब वे सुविधा-प्राप्त वर्ग मौजूद नहीं हैं जिनके सम्पर्क से "क़ानूनी" अपराधों को मनमाना बढ़ावा मिलता रहे। सोवियत संघ में भारी परिवर्तन हो रहे थे। जीवन के उद्देश्य तक में परिवर्तन हो रहे थे। अब तक जीवन का उद्देश्य स्वार्थपूर्ण, व्यक्तिगत मुनाफ़े के लिए संघर्ष करना था। लेकिन अब जीवन का उद्देश्य अपने राष्ट्र को सम्पन्न बनाना था। अपराध-केन्द्रों की जड़ें खोदी जा रही थीं।

सोवियत अदालतों में 1923 में अपराध के मामलों की संख्या हम 100 मानें तो 1926 में घटकर यह 63 हो गयी थी। 1929 में यह 60 रह गयी। साल के भीतर ही 10 अपराधों में से 4 अपराध घट गये।

फिर भी, अपराध के ख़िलाफ़ संघर्ष को सोवियत विशेषज्ञ 1930 से शुरू हुआ बताते हैं। उद्योगों का समाजीकरण जारी था और छोटे-छोटे खेतों को ख़त्म करके बड़े सामूहिक खेत बनाये जा रहे थे। फलस्वरूप, सोवियत अपराध-क़ानून में भारी परिवर्तन हुए। कुछ सालों से सामूहिक (जन) सम्पत्ति में चोरियों की बाढ़-सी आ गयी थी। अपराधियों की कुल संख्या में से लगभग आधे इन्हीं चोरियों के अपराध में पकड़े गये थे। अस्तु, इन अपराधियों को शिक्षित करने और आर्थिक रूप से उनके जीवन को व्यवस्थित बनाने का आन्दोलन ज़ोरों से जारी किया गया। पाँच साल के भीतर ही इन अपराधों में 60 प्रतिशत कमी हो गयी। समूचे रूस में हर क़िस्म के अपराधों में लगभग एक-तिहाई कमी हुई।

यह सफलता कैसे हासिल हुई? उसी तरह के उपायों से जिनसे व्यभिचार और शराबख़ोरी को मिटाया गया था। अब हम इनका विस्तार से वर्णन नहीं करेंगे। अनेक विदेशी लेखक बता चुके हैं कि सोवियत संघ में अपराधियों से कैसा व्यवहार किया जाता है। ए. विशिन्स्की ने बहुत थोड़े और स्पष्ट शब्दों में इसका वर्णन किया है :

"पूँजीवादी देशों में जिन अपराधियों को समाज से बहिष्कृत कर दिया जाता है और दूषित व्यक्ति घोषित कर दिया जाता है, उन्हें सोवियत संघ में देश के

आर्थिक निर्माण में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। कुछ ही दिनों में ये लोग समाजवाद के सक्रिय निर्माण में भाग लेने लगते हैं। श्वेत सागर-बाल्टिक कैनाल (नहर) और मास्को-वोल्गा कैनाल (नहर) की योजना में सैकड़ों ऐसे लोगों ने भाग लिया। यह काम उनके लिए बड़ा शिक्षाप्रद साबित हुआ। इस तरह के काम ने इन लोगों के दृष्टिकोण को सुधारा और ईमानदार मेहनत से उन्होंने अपनी रोटी कमाना सीखा।"

दूसरे महायुद्ध से कुछ ही दिनों पहले की एक घटना है। इस घटना ने सोवियत संघ में अपराधों की कमी को स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया।

मास्को के निकट बोल्शेवो कॉलोनी नाम की एक प्रसिद्ध संस्था थी जिसका काम अपराधियों को सुधारना था। कई बातों में यह व्यभिचारिणी महिलाओं को सुधारने वाले अस्पतालों से मिलती-जुलती थी। अनेक यात्री इसे देखने आ चुके थे। धीरे-धीरे इस संस्था की कार्रवाइयों का विकास हुआ। 1939 में कॉलोनी का आर्थिक और सांस्कृतिक वातावरण इतना आकर्षक बन गया था कि अनेक "विद्यार्थी" विवाह करने और स्थायी रूप से अपना घर बसाने का आग्रह करने लगे। इनकी संख्या उन लोगों के मुक़ाबले कहीं ज़्यादा थी, जिन्हें सज़ा देकर अदालतें अब इस कॉलोनी में भर्ती होने के लिए भेज रही थीं। अस्तु, मजबूर होकर अधिकारियों को घोषणा करनी पड़ी कि यह संस्था अब सुधार-संस्था नहीं है। अब यह कालोनी सम्मान-प्राप्त नागरिकों का निवास स्थान बन गयी है। जिन पाठकों ने वार्डेन लावेस की **ट्वेण्टी थाउज़ेण्ड इयर्स इन सिंग सिंग (सिंग सिंग में बीस हज़ार वर्ष)** नामक किताब पढ़ी है, वे अपराधों के ख़िलाफ़ हमारे संघर्ष की असफलता और सोवियत रूस के संघर्ष की सफलता को स्वीकार करेंगे। सोवियत संघर्ष की सफलता की निशानी यह है कि बोल्शेवो संस्था जेलख़ाने से बदलकर सम्मान-प्राप्त नागरिकों के रहने का स्थान बन गयी।

सोवियत संघ में आज भी कितने ही जेलख़ाने हैं। ख़ास बात यह है कि पहले के मुक़ाबले इन जेलख़ानों की संख्या अब बहुत कम है। अदालतों में भी अब मुक़दमे बहुत कम आते हैं। हमें सबसे ज़्यादा आश्चर्य में डालने वाली बात तो यह है कि बालकों के बीच अपराधों की संख्या अब कम हो गयी है। 15 साल तक भिन्न-भिन प्रयोग करने के बाद सन 1935 में रूसी अपराधियों की व्यवस्था में भारी परिवर्तन हुआ। नयी व्यवस्था को लागू हुए 18 महीने भी न हो पाये थे कि अपराधों की संख्या में 22 प्रतिशत कमी हो गयी। आज 15 सालों के बाद, मैं दावे के साथ कहता हूँ, स्थिति यह है कि बालकों के बीच से अपराध - जिस रूप में कि हम उन्हें जानते हैं - एकदम उठ गये हैं। इन 15 सालों में युद्ध के वे चार साल भी शामिल हैं जब रूसी बच्चों की तरह-तरह की शारीरिक और

मानसिक पीड़ाओं के दौर से गुज़रना पड़ा था और कितने ही बच्चे अनाथ बन गये थे। कितने ही नगरों और गाँवों में हमने (मैंने और मेरी पत्नी ने) अपराधी बालकों और अदालतों में उन पर मुक़दमों के बारे में प्रश्न पूछे। सब कहीं से लगभग एक-सा ही उत्तर मिला : "अब हमारे यहाँ बहुत कम सिरफिरे लड़के हैं। बेशक शैतान लड़के थोड़े-बहुत अब भी हैं और कभी-कभी एक-आध ऐसे 'बिगड़े बच्चे' भी निकल आते हैं जिनकी तरफ़ ख़ास ध्यान देने की ज़रूरत होती है। लेकिन हमारे यहाँ बाल अपराधी अब ढूँढ़े से ही मिलेंगे।" जिसने भी सोवियत जीवन को नज़दीक से देखा है, उसे समझते देर न लगेगी कि ऐसा क्यों है।

हमने सारे विश्व का भ्रमण नहीं किया। पर हम इतना तो दावे से कह सकते हैं कि जहाँ भी हम गये हैं, सब जगहों के मुक़ाबले समाजवादी देश में बच्चों का जीवन ज़्यादा सुखमय और स्वस्थ है। सोवियत बच्चे "आकाश कुसुम" नहीं हैं। वे साधारण बच्चे हैं। बिना भेद-भाव के सभी को जीवन की दो मुख्य आवश्यक सुविधाएँ हासिल हैं।

पहली तो यह कि उन्हें कभी आधे पेट नहीं रहना पड़ता और उनकी पूरी डॉक्टरी देख-रेख होती है। दूसरी, खेलने-कूदने और रचनात्मक शिक्षा पाने की उनकी सहज प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने की वहाँ अनुपम सुविधाएँ मौजूद हैं।

सोवियत बच्चे गलियों में नहीं खेलते फिरते। उनके खेलने के लिए बढ़िया से बढ़िया मैदान बने हुए हैं। एक मिसाल दूँ : सोवियत बच्चे न सिर्फ़ छोटी-छोटी रेलों पर सवारी करते हैं, बल्कि उनकी अपनी खुद की रेलें हैं जो सचमुच भाप के इंजन से चलती हैं। स्तालिनग्राद में हम बच्चों की रेल को देखते नहीं अघाये। उसका भाप का इंजन और छोटे-छोटे डिब्बे देखते ही बनते थे।

सोवियत बच्चे गुण्डों और बदमाशों की नक़ल नहीं करते। ज़्यादा मज़ा उन्हें अच्छे-भले आदमियों की नक़ल करने में आता है। उनकी अपनी रेलों के अलावा उनके अपने नाटकघर, अख़बार, पत्र-पत्रिकाएँ, नावें, प्रयोगगृह, उद्यान, मनोरंजन के पार्क भी हैं। बढ़ते बच्चों को जिन चीज़ों में दिलचस्पी हो सकती है, सभी उनके पास हैं।

शिक्षा सोवियत जीवन का बड़ा महत्वपूर्ण अंग है। वहाँ के स्कूलों में जो कुछ हमने देखा, उसमें से कुछ बातें ये हैं :

हमारे स्कूलों के मुक़ाबले सोवियत स्कूलों में ज़्यादा अध्यापक हैं।

स्कूलों में अच्छा अनुशासन रहता है। बच्चे अध्यापकों की इज़्ज़त तो करते ही हैं, उन्हें प्यार भी करते हैं।

सज़ा के तौर पर बच्चों को शारीरिक यातना देना वर्जित है।

अध्यापकों पर ज़रूरत से ज़्यादा काम नहीं रहता। सभी शक्तिशाली अध्यापक

संघों के सदस्य होते हैं। स्कूल के बाद यदि वे कोई काम करते हैं तो इसकी उन्हें अतिरिक्त तनख़्वाह मिलती है।

विज्ञान की शिक्षा विद्यार्थियों को ख़ासतौर से दी जाती है। छोटी कक्षाओं में भी अच्छे से अच्छे प्रयोग के यन्त्र मौजूद रहते हैं। विद्यार्थियों को बढ़ावा दिया जाता है कि "तुम इसे खुद ही साबित करो"। तमाम स्कूलों में बहुत अच्छे बाग़ीचे, फूलों की क्यारियाँ, पशु और मछलियाँ भी होती हैं। बच्चों को स्कूल में ही अच्छी तरह पढ़ाया जाता है। घरों पर पढ़ने के लिए उनको टुकड़ियों में विभाजित कर दिया जाता है। सभी में "टीम (सहयोग) भावना" पायी जाती है।

बच्चों के स्वास्थ्य की बड़ी हिफ़ाज़त की जाती है। बड़े-बड़े स्कूलों में पूरे वक़्त के लिए डॉक्टर और नर्सें होती हैं। बच्चों के स्वास्थ्य की साल में कम-से-कम चार बार जाँच की जाती है।

हर रोग का घर पर या शफ़ाख़ाने में या बच्चों के स्वास्थ्य केन्द्र में इलाज किया जाता है। इलाज मुफ़्त होता है।

स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से जिन बच्चों को विशेष प्रकार के भोजन की ज़रूरत होती है, उन्हें यह भोजन स्कूल के भोजनगृह में मुफ़्त दिया जाता है।

स्कूल में भोजन का ख़र्च अधिकांश अभिभावक खुद देते हैं। यह ख़र्चा बहुत मामूली होता है। उनके भोजन को देखकर हम चकित रह गये। कितने ही स्कूलों में एक ही प्रकार के भोजन की अलग-अलग क़िस्में मौजूद रहती हैं; जो बच्चा जैसा भोजन चाहे ले सकता है।

यदि किसी कारण विद्यार्थी के पिता की आय कम हुई तो उसे स्कूल में मुफ़्त भोजन मिलता है। इसे दान नहीं समझा जाता, इसे बच्चे का अधिकार समझा जाता है।

हमारे अख़बारों में अक्सर बड़े-बड़े धार्मिक पण्डितों और सामाजिक कार्यकर्ताओं के बयान छपा करते हैं। इनमें हॉलीवुड के कामोत्तेजक चलचित्रों, कामोत्तेजक विज्ञापनों, काम सम्बन्धी अपराधों की ख़बरों से बचे रहने की चेतावनी दी जाती है। यह सब कुछ हमारे देश में अमेरिका से आता है। पण्डितों और कार्यकर्ताओं, दोनों का ही मन्तव्य है : "भई, कुछ किया जाना चाहिए।" पर, सोवियत रूस में ऐसी कोई समस्या नहीं। वहाँ के लोग, अधिकारियों से लेकर आम जनता तक, काम सम्बन्धी बातों के इस तरह के उपयोग को अपराध समझते हैं। वे इसे बर्दाश्त करने को तैयार नहीं।

एक चीज़ जो समाजवाद के देश में ख़ासतौर से देखने में आती है, यह है : गन्दे चित्र, प्रतीक, चलचित्र, किताबें वहाँ एकदम नदारद हैं। इसका कारण यह क़तई नहीं कि वहाँ के लोग "बड़े भोले हैं"। एक बात ज़रूर है : वहाँ

काम-सम्बन्धी बातों को सस्ता और घटिया क़िस्म का माल बेचने का साधन नहीं बनाया जा सकता। दूसरे, काम-सम्बन्धी बातों की ओर जनता का नज़रिया बड़ा स्वस्थ है। ये बातें वहाँ प्रेम-बन्धन में बँधे दो प्राणियों की अपनी निजी चीज़ मानी जाती हैं – घटिया क़िस्म के कपड़े, नुक़सानदेह पेय पदार्थों या हॉलीवुड के शेखचिल्लियों द्वारा लिखे और बनाये चित्रों को बेचने का साधन नहीं।

सोवियत बच्चे ऐसे वातावरण में पलते हैं जो निराशावादी प्रभावों से मुक्त होता है। वे भी व्यंग्य-चित्रों के प्रेमी होते हैं। पर उनके व्यंग्य-चित्रों में अधनंगी औरतें और गुंडे पेश नहीं किये जाते। वे ऐसे चित्रों के प्रेमी होते हैं जो उनमें स्वस्थ और सुखी बचपन की भावनाओं का संचार करते हैं। किताबें भी वे ऐसी ही पढ़ते हैं। वे ऐसे समाज में पल रहे हैं, जिसमें तलाक़ को बढ़ावा नहीं दिया जाता। बढ़ावा दिया जाता है प्रेम पर आधारित वैवाहिक जीवन को।

इसके विपरीत, अमेरिका में जो दशा है, वह सभी को मालूम है।

1938 में पश्चिमी दुनिया में अपराधों की सबसे ज़्यादा संख्या अमेरिका में थी। 1943 तक हर वर्ष वहाँ 130 लाख गम्भीर अपराधों को नोट किया गया। इन अपराधों में हर 53वें मिनट पर होने वाली हत्या भी शामिल है। 'अमेरिकी फ़ेडरल ब्यूरो ऑफ़ इन्वेस्टिगेशन' के काग़ज़ात में 60 लाख अपराधियों की कारगुज़ारियों का ब्यौरा मौजूद है। युद्ध के बाद युवा बालिकाओं में अपराधों की संख्या 130 प्रतिशत बढ़ गयी है।

अमेरिकी युवक और युवतियों को इस दशा में पहुँचाने में बहुत बड़ा हाथ तथाकथित अमेरिकी 'सभ्यता' का है। **टेलीविज़न मैगजीन** नामक पत्रिका ने मई 1951 में लासएंजेल्स नामक नगर में एक हफ़्ते में दिखाये गये टी.वी. कार्यक्रमों के आँकड़े लिये थे। हॉलीवुडी सभ्यता के महान देश के नागरिकों ने सात दिन के भीतर जो चित्र देखे, उनमें 127 हत्याएँ थीं, 101 "न्यायसंगत हत्याएँ" थीं, 357 हत्या की कोशिशें थीं, 93 औरतें भगाने के दृश्य और 3 तरह-तरह की यातनाओं के दृश्य थे। इस ख़ौफ़नाक 'मनोरंजन' का 80 प्रतिशत भाग **ख़ासतौर से बच्चों के लिए था।**

सोवियत रूस में दशा ठीक उल्टी है।

सोवियत रूस सुखी बच्चों का देश है और यह सुख सबसे अच्छी तरह बच्चों की नाट्यशाला में देखने में आता है। अपनी करतल-ध्वनि से बच्चे दीवारों को हिला देते हैं। खलनायक को वे खुलकर गालियाँ देते हैं। और, नायक की खुलकर प्रशंसा करते हैं। कभी-कभी तो वे किसी अच्छे दृश्य को देखकर अपनी तालियों की गड़गड़ाहट से नाटक को रोक देते हैं और उस दृश्य को दोहराने के लिए उन कलाकारों को मजबूर कर देते हैं।

हमारे यहाँ के बच्चे भी चलचित्र देखकर इतने ही खुश हो उठते हैं। पर उनकी प्रसन्नता में मार्के का फ़र्क़ है। यह फ़र्क़ चलचित्रों की विषय-वस्तु के कारण है। बच्चों की नाट्यशालाओं में सोवियत बच्चे अच्छी से अच्छी कलाकृतियों, अच्छे से अच्छे नाटकों को देखते हैं। उनके सबसे प्रिय नाटक वे होते हैं जिनमें वास्तविक जीवन की घटनाओं और वास्तविक चरित्रों का प्रतिबिम्ब होता है। उन्हें ऐसी ऊटपटांग और बेहूदी चीज़ें पसन्द नहीं आ सकतीं, जैसी अमेरिकी चलचित्रों में पेश की जाती हैं। सोवियत बच्चों में हमने देखा कि उनकी आलोचनात्मक दृष्टि बहुत पैनी है। वे सच्चा और सजीव अभिनय चाहते हैं। बनावटी और दिखावटी अभिनय को पकड़ने में उन्हें देर नहीं लगती। यदि उन्हें पश्चिमी देशों के हॉलीवुडी मारकाट वाले खेल दिखाये जायें – जैसेकि हमारे बच्चों को दिखाये जाते हैं – तो हम आसानी से अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि शोरगुल मचाकर वे इनके प्रदर्शन को रुकवा देंगे।

बहुत छुटपन से ही, जब वे किण्डरगार्टनों में होते हैं, सोवियत बच्चे नाटक देखना शुरू कर देते हैं। स्कूल में पहुँचने पर साहित्य में उनकी रुचि और भी निखर उठती है, क्योंकि सभी देशों के अच्छे से अच्छे नाटकों को वे देख सकते हैं। 14-15 साल की अवस्था तक पहुँचने पर उनकी परख बहुत पैनी हो जाती है और उन्हें यह समझने में देर नहीं लगती है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा।

“यदि ज़रा–सा भी सदाचार बाक़ी है तो!”

लोग पाप क्यों करते हैं?

हम और अधिक स्पष्टता से पूछेंगे : लोग ऐसे काम करते ही क्यों हैं जिनसे उनको, उनके निकट सम्बन्धियों को और समूचे समाज को शारीरिक और मानसिक दु:ख भुगतना पड़े? इससे भी ज़्यादा खुले रूप में प्रश्न किया जा सकता है : पुरुष और स्त्री व्यभिचारी होते ही क्यों हैं? इक्का-दुक्का व्यभिचार की मिसालों की बात हम नहीं पूछ रहे हैं। हम पूछ रहे हैं, बड़े पैमाने पर व्यभिचार के फैलाव का कारण। इस फैलाव का जीता-जागता सबूत यौन-रोगों से बचाव की हर महीने 5 करोड़ दवाओं की खपत है।

इसी अर्थ में हमारा प्रश्न है : लोग पाप करते ही क्यों हैं?

उत्तर में हमें तमाम लोगों के स्वर सुनायी पड़ते हैं। इन सभी लोगों की अलग-अलग डफली और अलग-अलग राग हैं। व्यभिचार का कारण, एक स्वर कहता है, यह है कि लोग आत्मा की आवाज़ को नहीं सुनते। तो क्या हम उस समय तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें जब तक विज्ञान कोई ऐसा ध्वनि प्रसारक यन्त्र ईज़ाद कर दे जिससे यह बारीक आवाज़ बुलन्द होकर सुनायी पड़ने लगे? नहीं, यह तो परम पिता के महात्म्य को कम करके आँकना होगा, दूसरा स्वर कहता है, क्योंकि ईश्वर ही बतला सकता है कि क्या अच्छा है और क्या बुरा है। किन्तु खेद है कि सामन्तयुग में करोड़ों लोगों को उनके धार्मिक नेता समझा चुके थे : स्त्रियाँ यदि वेश्यावृत्ति ग्रहण करती हैं तो किंचित हानि नहीं; हाँ, यदि भली स्त्रियाँ प्रेम करना शुरू करें तो यह अवश्य अक्षम्य होगा।

तो क्या ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी सामाजिक व्यवस्था को बदलते हैं, त्यों-त्यों परम पिता परमात्मा के पाप-पुण्य नियमों में भी रद्दो-बदल हुआ करता है?

इस बात को अनादरसूचक समझकर दूसरे सिद्धान्तवेत्ता और दर्शनशास्त्री हमें

आगाह कर उठते हैं : बगुलाभक्तों की बातों में विश्वास मत करो। सच्चे भक्त तो हम हैं। हमारी बात मानो और ईश्वर के प्रति उल्टी-सीधी बातें जबान पर मत लाओ। इस तरह के तर्कों और उनके उत्तरों से पुस्तक के पन्ने के पन्ने-भर जायेंगे। मध्य युग के बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान अनोखी गम्भीरता से इस प्रश्न पर बहस किया करते थे : एक सुई की नोक पर खुदा के कितने फ़रिश्ते खड़े हो सकते हैं?

और अब हमारे दर्शनशास्त्री – यहाँ तक कि कुछ वैज्ञानिक भी – यह प्रश्न पूछते नहीं अघाते कि मनुष्य में पाप की प्रवृत्ति होती ही क्यों है?

मध्ययुग की बहसें दिलचस्प और लाभदायक हो सकती थीं। मुमकिन है इन बहसों के फलस्वरूप अन्दाज़ा लगाया गया हो कि क्या मनुष्य भी उड़ सकते हैं! इसका भी तख़्मीना लगाया गया होगा कि फ़रिश्ते कितनी मुश्किल से सुई की नोक पर उतरते होंगे; और उतर भी आते होंगे तो फिर दुबारा कैसे उड़ते होंगे। यह भी सोचा जा सकता है कि उन बहसों से प्रतिबिम्बों के फैलने और सिकुड़ने के हानि-लाभों और ऐसी ही दूसरी कामकाजी बातों का अन्दाज़ा लगाया गया होगा।

पर व्यभिचार और इन्द्रिय-रोगों के बारे में इस तरह की दिलचस्पी की बातों की उम्मीद नहीं की जा सकती।

यदि आप पादरी या डॉक्टर या वकील हैं – ख़ासतौर से यदि आप किसी के पिता या माता हैं – तो आपका कर्तव्य है कि अपने देश की घटनाओं का अध्ययन करें और देखें कि वे देश को किस तरफ़ ले जा रही हैं।

आज हमारे यहाँ बड़े पैमाने पर जो एक अजीब तरह की मानसिक बीमारी फैली है, उसका कारण शराबख़ोरी है। इसे रोकने के लिए क्या किया जा रहा है? क़तई कुछ नहीं। शराबख़ोरी का व्यापक रोग हमारी सरकार के लिए बेहद मुनाफ़े का साधन बना हुआ है।

इस महाद्वीप पर युद्ध की उथल-पुथल मचने से पहले हमारे यहाँ हर 5 बच्चों में से दो की भ्रूण-हत्या हो रही थी। तमाम डॉक्टर स्वीकार करेंगे कि भ्रूण-हत्याओं की दर अब और भी ऊँची हो रही है। इस हत्याकाण्ड की भयानकता का अन्दाज़ा लगा सकना कठिन है। इस वक़्त भी, इधर आप इस पंक्ति को पढ़ रहे हैं और उधर कोई भ्रूण-हत्या के काम में जुटा है। नाज़ी आततायी भी उतने यूरोपीय बच्चों की हत्या नहीं कर सके थे, जितने बच्चे अब हमारे देशों में गुप्त रूप से मारे जा रहे हैं।

इतना ही नहीं। डॉ. एल्बर्ट एल. डुन – अमेरिकी मर्दुमशुमारी ब्यूरो के वाइटल स्टैटिस्टिक्स डिवीजन के सर्वेसर्वा – ने हाल ही में बताया है कि अमेरिका में

पैदा होने वाला प्रत्येक 12वाँ बच्चा जारज सन्तान होता है। इसका अर्थ है कि हर साल प्राइमरी स्कूलों में भर्ती होने वाले लगभग 1,70,000 बच्चे अपने पिता का नाम नहीं बता सकते। क़ानूनी तौर पर वे "बिना पिता के बच्चे होते हैं।" क़ानूनी तौर पर उनका कोई परिवार नहीं होता। ज़िन्दगी की हर मंज़िल पर शर्म और बदनामी से उनकी मुठभेड़ होती है। इन अभागे बेगुनाह बच्चों की फ़ौज दिन पर दिन बढ़ती ही जा रही है। लेकिन उनकी दशा इतनी दयनीय है कि डॉ. डुन को इस बात की अपील करनी पड़ी कि उनके जन्म-सम्बन्धी सर्टिफ़िकेट समाज के सामने पेश न किये जानें और इसके लिए क़ानूनी क़दम उठाया जाये। साथ ही, उन्होंने यह भी कह दिया कि मौजूदा हालात में इन "बिना पिता की सन्तानों" की संख्या को कम कर सकना असम्भव है।

हमारे यहाँ तलाक़ों की दर इतनी तेज़ी से बढ़ रही है कि लाखों लोग या तो किसी दूसरे की पहली पत्नी से या दूसरे के पहले पति से विवाहित हैं। लाखों-करोड़ों बच्चों पर भी इस स्थिति का बुरा प्रभाव पड़ रहा है। उन्हें अपने सच्चे माता-पिता का प्यार नहीं मिल पा रहा। गिरजाघर के महन्त और पादरी तलाक़ों के कट्टर विरोधी बने हुए हैं; पर तलाक़ों की बढ़ती को रोकने में उनकी एक नहीं चल पाती। क़ानून तो तलाक़ों के लिए और भी उदार नियमों की माँग कर रहा है। क़ानूनी विवाहों की इज़्ज़त को बरक़रार रखने का क़ानूनी-पण्डित यही एक उपाय देख पा रहे हैं।

उधर डॉक्टरी खोजबीन का उद्देश्य यह बना जा रहा है कि ऐसे नुस्खे और ऐसी दवाइयाँ तैयार की जायें जिनसे व्यभिचार के दौरान अधिक से अधिक सुख भोजा जा सके; साथ ही न तो कोई बीमारी लगने पाये और न बच्चे पैदा हों।

इन्द्रिय-रोगों, शराबख़ोरी, जारज सन्तानों, भ्रूण-हत्याओं, तलाक़ों, अपराधों में दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती हो रही है। भयानक अध:पतन की कगार पर हम खड़े हुए हैं और चौमुखी अनैतिकता का दैत्य मुँहबाये हमें निगलने को तैयार है।

ऊपर कही बातों को अमेरिका की आज की स्थिति ने सिद्ध भी कर दिया है। 1951-52 में वाशिंगटन बदनामी की बातों से हिल उठा था। हालत यहाँ तक नाज़ुक हो गयी थी कि नवम्बर 1951 में अमेरिका के रोमन कैथोलिक पादरियों को एक खुला वक्तव्य जारी करना पड़ा। जनता के नाम इस चेतावनी में उन्होंने आगाह किया कि अमेरिका नैतिक पतन की उसी बुरी अवस्था में पहुँच गया है, जिसके कारण प्राचीन रोम का पतन हुआ था।

यू.एस. न्यूज़ नामक अमेरिकी पत्रिका ने उसी सप्ताह बताया कि "देश के एक छोर से दूसरे छोर तक की...दशा बताती है कि अमेरिका का नैतिक ढाँचा कमज़ोर होता जा रहा है।" स्तम्भ लेखिका डॉरोथी थॉम्पसन ने तो यहाँ तक कह डाला : "सरकार के अन्दर भ्रष्टाचार की मौजूदगी नयी चीज़ नहीं है।...पर ख़ास बात यह है कि अब यह भ्रष्टाचार ऊपर से नीचे तक सभी जगह फैल गया है।"

अमेरिका में जो रवैया है, उसकी रूस से तुलना करने से हृदय में बड़ी ग्लानि होती है। वहाँ इतिहास में पहली बार लाखों-करोड़ों इन्सानों ने यह समझा और सीखा है कि पाप कोई राक्षसी देन नहीं। उन्होंने समझा है कि यह एक सामाजिक बुराई है जो आसानी से समझ में आने वाले वैज्ञानिक उपायों से दूर की जा सकती है। इस समझदारी के फलस्वरूप ही सोवियत रूस के लोग भयानक से भयानक अनैतिकता को ख़त्म करने में कामयाब हुए हैं। दुनिया में सोवियत रूस ही एक ऐसा देश है, जहाँ से वेश्यावृत्ति को एकदम उठा दिया गया है। इस तरह, उन्होंने वह कर दिखाया है जिसे हमारे दार्शनिक, पादरी और डॉक्टर असम्भव समझते हैं।

दुनिया के और किसी देश में जेलों और सुधार-केन्द्रों को बन्द नहीं किया जा रहा है। सोवियत रूस ही ऐसा देश है जहाँ गर्भ-निवारण बनाम शिशु-हत्याओं को बन्द किया जा रहा है, जहाँ तलाक़ों की संख्या में तेज़ी से कमी हो रही है।

एक बात ज़रूर है। नैतिक सुधार के लिए सोवियत रूस की मिसाल से सीखने की बात बहुत लोगों को अरुचिकर मालूम होती है। ये लोग अमेरिका के इस प्रचार के पूरी तरह शिकार बन चुके हैं कि दुनिया में सबसे अच्छी सभ्यता "अमेरिकी सभ्यता" है। इस तरह पूँजीवादी देशों के लाखों-करोड़ों इन्सानों की आँखों पर पट्टी बाँध दी गयी है ताकि वे बुनियादी सच्चाई को देख नहीं सकें। इस सच्चाई के एक पहलू को एक कैथोलिक विचारक ने हाल में ही पेश भी किया था। इनका नाम है काउण्ट माइकेल दे ल बिदोयेर और **कैथोलिक रिकार्ड** नामक अंग्रेज़ी पत्र के वह सम्पादक हैं।

उन्होंने पूछा है : "आज के सबसे बड़े अध:पतन के सामने ईसाई मज़हब की वक़त ही क्या है?" दुखी होकर वे कहते हैं, "जैसे भी बने हमें नवीन सत्य को देखना चाहिए और लोगों में नया उत्साह जगाना चाहिए।" बाद में उन्होंने कहा है "अगर ईसाई धर्म यह उत्साह नहीं जगा सका, तो कम्युनिज़्म लोगों को अपने साथ बहा ले जायेगा।...मास्को का आकर्षण केन्द्र पोप या कैण्टरबरी के पादरी से कहीं ज़्यादा शक्तिशाली सिद्ध हो रहा है।"

एक रोमन कैथोलिक के मुँह से यह बात सुनकर सचमुच आश्चर्य होता है। लेकिन उसकी बात में अतिशयोक्ति नहीं है। उसने सच्चाई को ठेठ रूप में पेश कर दिया है।

1946 के बाद की दुनिया में क्या-क्या तब्दीलियाँ हुई हैं? इस समय से अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा और दुनिया के दूसरे आगे बढ़े देशों में युद्ध के लिए

जी-तोड़ तैयारियाँ शुरू हो चुकी थीं। 1946 के बाद हुआ यह कि सोवियत रूस का सम्मान घटने की बजाय दुनिया के लाखों-लाख इन्सानों की नज़र में और भी बढ़ गया।

अब इस पुस्तक का हिन्दी संस्करण छप रहा है। इस वक़्त मुझसे एशिया में होने वाले नवीन महान परिवर्तनों का ज़िक्र करने का लोभ संवरण नहीं किया जा रहा। एशिया में परिवर्तन इतनी तेज़ी से हो रहे हैं कि आज कही बात के कल पुरानी पड़ जाने की सम्भावना मौजूद है। इस पुस्तक में मैं दो ही देशों का ज़िक्र करके सन्तोष कर लूँगा। अपने विकास-स्तर में, अपने इतिहास में और अपने-अपने रीति-रिवाज़ों में इन दोनों देशों में सचमुच "ज़मीन आसमान का फ़र्क़" है।

चेकोस्लोवाकिया हर नज़रिये से "पश्चिमी" देश है। वहाँ जनवादी परम्परा सदा से चली आयी है। चेकोस्लोवाकिया ने जब से समाजवाद के रास्ते पर क़दम रखे और सोवियत रूस से मित्रता की नीति अपनायी, वहाँ की नैतिक-स्थिति में मार्के की उन्नति हुई। परिवार की व्यवस्था, तलाक़, माताओं और बच्चों की खुशहाली के लिए वहाँ समाजवादी क़ानून पास किये गये। वहाँ की महिलाएँ पुरुषों से सच्ची समानता की ओर तेज़ी से अग्रसर हुईं। सोवियत रूस की ही तरह इस परिवर्तन ने चेकोस्लोवाकिया में भी परिवार की नींव को फ़ौलादी बना दिया। तलाक़ों की दर वहाँ तेज़ी से घटी। विवाहों की दर पहले से भी ज़्यादा तेज़ी से बढ़ी – ख़ासतौर से नवयुवकों के बीच जिनका भविष्य सुरक्षित है। माताओं और बच्चों की खुशहाली के लिए तथा परिवारों को सुदृढ़ बनाने के लिए राष्ट्र की ओर से भारी रक़में ख़र्च की गयीं। समाजवादी चेकोस्लोवाकिया से लौटकर आये हुए लोग एक नये प्रकार के पारिवारिक जीवन की बातें करते हैं। इसी तरह का पारिवारिक जीवन आमतौर से वहाँ देखने में आता है। विवाह चेक लड़कियों की आर्थिक-सुरक्षा का निमित्त मात्र नहीं। राष्ट्र की ओर से हरेक को नौकरी देने और अच्छा जीवन बिताने लायक तनख़्वाह देने की गारण्टी है। विवाह के रास्ते में कोई रुकावटें नहीं है और बच्चों को आर्थिक बोझा नहीं समझा जाता।

दूसरा देश है चीन – नया चीन। यहाँ तीन साल से भी कम अरसे में क्रान्ति ने लाखों-करोड़ों स्त्रियों के जीवन में भारी परिवर्तन कर दिया है। चीन के इतिहास में पहली बार झुण्ड की झुण्ड स्त्रियाँ स्कूलों में पढ़ने के लिए जाने लगी हैं। ऊँचे से ऊँचे शिक्षालयों के दरवाज़े उनके लिए खोल दिये गये हैं। सभी सरकारी महकमों और पदों पर स्त्रियाँ मौजूद हैं। सैकड़ों-हज़ारों की तादाद में वे उद्योगों में काम करने के लिए पहुँच रही हैं। किन्तु अब वे वहाँ अशिक्षित गुलाम स्त्रियों की तरह भर्ती नहीं की जातीं! अब वे वहाँ पहुँच रही हैं कुशल कारीगरों के रूप में, और शासन-प्रबन्ध के ऊँचे से ऊँचे पदों पर पहुँचने की सम्भावनाएँ उनके सामने मौजूद हैं। माताओं और पत्नियों की स्थिति में भारी उन्नति हुई है। इस उन्नति का कारण यह है कि भुखमरी और अकाल का सदा के लिए अन्त कर दिया गया है, अस्पतालों और शिशु क्रीड़ा केन्द्रों का सारे देश में जाल-सा बिछा दिया गया है। इस उन्नति का कारण यह है कि वहाँ नये क़ानून बनाये गये हैं और ये क़ानून समाजवादी नैतिकता के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। नये चीन को देखकर आये सभी ईमानदार लोग यह स्वीकार करते हैं कि इतिहास में किसी भी दूसरे देश की स्त्रियों ने इतनी तेज़ी से गुलामी के बन्धन नहीं तोड़े।

इसी तरह की दशा दूसरे जनवादी देशों, जैसे हंगरी, रूमानिया, बुल्गारिया, पोलैण्ड और अल्बानिया में भी है। दुनिया के बहुत बड़े भाग में समाजवादी नैतिकता का यह ऐतिहासिक विकास सोवियत रूस के घनिष्ठ सहयोग से हो रहा है और सोवियत अनुभव पर ही यह आधारित भी है। फिर इसमें ताज्जुब की बात ही क्या कि पूर्व, मध्यपूर्व अफ़्रीका, दक्षिणी अमेरिका के लोग – यूरोप के लाखों लोगों की तो बात ही क्या – राजनीतिक और आर्थिक प्रेरणा के साथ नैतिक प्रेरणा के लिए भी सोवियत रूस की ओर मुख़ातिब हो रहे हैं। विश्व के इस ऐतिहासिक परिवर्तन के सबक़ को समझना ज़रूरी है।

हम यहाँ मैक्सिम गोर्की की रचना का एक अंश उद्धृत करेंगे। "मुफ़्तख़ोर" लोगों की ओर सोवियत नज़रिया क्या है, यह इस उद्धरण से बड़ी अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। गोर्की ने लिखा है :

"मुफ़्तख़ोर गाली का शब्द नहीं है। यह वास्तव में ऐसे मनुष्य की परिभाषा है जिसने अपना जीवन व्यर्थ गँवा दिया। समाजवादी परिस्थितियों के अन्तर्गत मुफ़्तख़ोर एक ऐसा प्राणी है जो पुरानी व्यवस्था की बीमारियों, ईर्ष्या और लालच से बुरी तरह पीड़ित है। मुफ़्तख़ोर के बुनियादी सिद्धान्तों, उसके आदर्शों और आध्यात्मिक जीवन के सारतत्व को सबसे अच्छी तरह इन थोड़े से शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है : 'मैं तो बस अपना पेट भरना चाहता हूँ।' उसके लिए दुनिया क्या है? ऐसी जगह जहाँ लोग अपना पेट भरते हैं, जहाँ वह अपना पेट भरना चाहता है। और अपना पेट वह दूसरों से ज़्यादा और अधिक स्वादिष्ट भोजन से भरना चाहता है। उसकी समूची इच्छाशक्ति, उसकी बुद्धि और उसकी अध्यात्म शक्ति सिर्फ़ इसी अमानवीय उद्देश्य पर केन्द्रित होती है।"

संसार के एक महान कलाकार ने इन शब्दों में ऐसे लोगों की भर्त्सना की है। फासिस्ट गुण्डों के हाथों हत्या से कुछ ही दिनों पहले, गोर्की ने और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा था :

"पूँजीवादी दुनिया और हमारी समाजवादी दुनिया के बीच बुनियादी फ़र्क़ यह

है : हमारे सिद्धान्त और हमारी आर्थिक व्यवस्था मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को अडिग रूस से अनुचित ठहराते हैं, हम लगातार और बड़ी सफलता से लोगों को शिक्षित करते हैं कि वे प्रकृति को अपने क़ाबू में लायें और उससे ज़्यादा-से-ज़्यादा लाभ उठायें। पूँजीवाद तो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण पर ही जीवित है। आमतौर से पूँजीवाद के अन्तर्गत मनुष्य को ऐसा प्राणी माना जाता है जिसका जन्म ही अपनी लालसा तृप्त करने, मुनाफ़ा कमाने और धन की शक्ति का गुणगान करने के लिए होता है।"

सच्चाई यह है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था - यानी पूँजीवादी जनवाद - की आधारशिला ही 'धन की शक्ति' है। हमारी मुक्त-प्रतियोगिता, हमारी मुनाफ़े की व्यवस्था उसी व्यक्ति की प्रशंसा करती है जो दूसरों को नुक़सान पहुँचाने और अपना भला करने में तेज़ हो। हमारी व्यवस्था के अन्तर्गत सबसे मज़े में वे ही लोग रहे हैं जो स्वभाव से या ज़िद से दूसरों का निर्दयता से शोषण कर सके हैं। जनता का बहुसंख्यक भाग, पुरुष और स्त्रियाँ, जो कठिन से कठिन श्रम करते रहे, जो समाज की माली और सांस्कृतिक सम्पत्ति को पैदा करने वाले थे, बहुत कम पा सके। उल्टे, मुट्ठी-भर लोग युद्ध और आम ग़रीबी के दिनों में भी गुलछर्रे उड़ाते रहे।

काउण्ट माइकेल को ज़्यादा गम्भीर चिन्तन की ज़रूरत नहीं थी। ऊपर बताये गये अन्तरविरोध को देखकर ही वे आसानी से समझ सकते थे कि क्यों हमारे देशों के लोग और भी अधिक उत्साह से सोवियत रूस के बारे में जानने की कोशिश कर रहे हैं। बचपन से ही हम लोगों को सिखाया गया है - ठीक उसी तरह जैसे हमारे बाबा और परबाबा को सिखाया गया था - कि ज़िन्दगी में कामयाबी इस बात से जाँची जाती है कि किसने कितना धन इकट्ठा किया है। हमारे समाज से दया, परोपकार, क़ुर्बानी, ईमानदारी और सहिष्णुता जैसे गुण मानो लुप्त हो गये हैं। सच पूछा जाये तो ये गुण उन्हीं लोगों में मिलते हैं, जिन्हें हम ज़िन्दगी में 'असफल' हुआ समझते हैं।

इतवार के दिन स्कूल में हमें ईसा मसीह की कड़ी चेतावनी सिखायी जाती है : "एक ऊँट भले ही सुई के छेद में से निकल जाये, धनी आदमी के लिए स्वर्ग में पहुँच सकना इससे भी मुश्किल है।" अब यह चेतावनी शायद पुरानी पड़ गयी है। इफ़्ते-भर हमें धन-वैभव की प्रशंसा के ही गीत सुनायी पड़ते हैं और लगता है कि स्वर्ग के देवता इतवार के दिन भी धनिकों को कष्ट देना ज़रूरी नहीं समझते। ईसा मसीह का खुल्लमखुल्ला विरोध करते हुए हमारे उद्योगपति, हमारे अधिकांश राजनीतिज्ञ और बहुत से पादरी तक धन के लिए संघर्ष को न्यायपूर्ण सिद्ध करने में एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा देते हैं। उनकी इस 'नैतिकता' पर अगर कोई उँगली उठाता है तो वे आगबबूला हो उठते हैं और उँगली उठाने वाले पर उनका क्रोध बरस पड़ता है।

आज इन लोगों ने शर्म और लिहाज़ को एकदम उतार फेंका है। अमेरिकी एटम बम के झण्डे के नीचे खड़े होकर वे दुनिया के सामने ऐलान करते हैं कि धन की नैतिकता न सिर्फ़ अमेरिका के लिए वरदान है, बल्कि जीवन का एक ऐसा सुन्दर नमूना है जिसे वे अनिच्छित दुनिया के ऊपर ज़बरदस्ती लादना चाहते हैं। इसके लिए, वे कहते हैं, अगर बल का प्रयोग करना पड़े, अगर तीसरा विश्व युद्ध छेड़ना पड़े, तो भी कोई बात नहीं। दुनिया के हर कोने में, जहाँ भी इस "जिहाद" के लिए वे अपने गुर्गे खड़े कर सकते हैं, देखा गया है कि अपने देश अमेरिका की तो वे पूजा करवाते हैं किन्तु अपने युद्ध के जाल में फँसने वाले लोगों के साथ वे बड़ा नीचतापूर्ण व्यवहार करते हैं।

समाजवादी संसार के ख़िलाफ़ अपने बेरोक और बेहूदा प्रचार आन्दोलन में अमेरिका के दलाल अब एक बात को छोड़ जाते हैं। घृणा के उनके प्रचार में झूठी से झूठी बातों को शामिल किया जाता है; नहीं शामिल किया जाता है तो सिर्फ़ एक बात को। फरेबियों और दगाबाज़ों के गुरुघण्टाल होते हुए भी वे सोवियत राष्ट्र के ख़िलाफ़ अनैतिकता का दोष लगाने में असमर्थ मालूम होते हैं। पर इसका कारण उनकी ईमानदारी नहीं है।

तो?

बात यह है कि समाजवादी राष्ट्रों के ख़िलाफ़ अनैतिकता का दोष लगा सकना अब अमेरीकियों के बस की बात नहीं है। इसकी वजह सिर्फ़ यही नहीं कि समाजवादी नैतिकता समूची पूँजीवादी दुनिया के लिए चुनौती है। इसकी ख़ास वजह यह है कि अमेरिकी भ्रष्टाचार, व्यभिचार और बेइमानी को ही अमेरिकी-जीवन के नाम से रँग-चुन कर पेश करता है।

इतिहास में कभी पहले धन की लोलुपता इतने नंगे रूप में देखने में नहीं आयी थी। 'व्हाइट हाउस' वालों से लेकर साधारण से साधारण टैक्स कलेक्टर तक, सभी के मुँह से धन के लिए लार बहती है। कभी भी दूसरी जगह वेश्यावृत्ति और भ्रूण-हत्याएँ इतने व्यापक पैमाने पर नहीं फैली थीं। कभी भी किसी दूसरे देश में शराबख़ोरी, व्यभिचार, विकृत काम-वासनाओं और हत्याओं को दैनिक मनोरंजन का साधन नहीं बनाया गया था। आज अमेरिका में यही सबकुछ अमेरिकी सभ्यता के नाम से विख्यात है। यही है 'शीत युद्ध' चलाने वाले अमेरिका का असली रूप। और ज्यों-ज्यों अमेरिका में युद्ध की तैयारियों का खुलासा होता जाता है, त्यों-त्यों यह नैतिक पतन अपनी पूर्णता की ओर और भी तेज़ी से बढ़ता जाता है।

आइन्स्टीन और दूसरे अनेक वैज्ञानिक घोषणा कर चुके हैं : एटम बम तथा कीटाणु अस्त्रों के इस युग में सबसे बड़ा अपराध, सबसे बड़ी अनैतिकता, युद्ध है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं कि अमेरिका के समर्थक, सोवियत रूस के लोगों को कोसते हुए नहीं अघाते। कारण यह कि सोवियत देश विश्व में शान्ति क़ायम रखने का दृढ़ता से समर्थन करता है। सचमुच, आज अमेरिका में 'शान्ति' शब्द सबसे ख़तरनाक शब्द बन गया है। छोटे-छोटे अख़बारों से लेकर **वॉल स्ट्रीट जर्नल** और **न्यूयॉर्क टाइम्स** तक – सभी में पढ़ लीजिए : शान्ति अमेरिका की सबसे बड़ी शत्रु है।

बेशक, शान्ति अमेरिकी जनता की शत्रु नहीं। वह शत्रु है अमेरिकी जंगबाज़ों के गिरोह की, युद्ध का समर्थन करने वाले राजनीतिज्ञों की और फ़ौजी शेखचिल्लियों की। अमेरिकी नेताओं की मौजूदा नीति को सफलता के दर्शन नहीं हो रहे। इसका कारण यह है कि दुनिया के बहुसंख्यक लोग समझते जा रहे हैं कि मनुष्य जाति को जीवित रखने का एकमात्र उपाय शान्ति की सुरक्षा है। कोई व्यवस्था – चाहे वह पूँजीवादी, समाजवादी या लोक जनवादी व्यवस्था हो – शान्ति के बिना क़ायम नहीं रह सकती। यह उतना ही बड़ा वैज्ञानिक सत्य है, जितना बड़ा और अकाट्य एटमी-विस्फोट का सत्य।

जीत, युद्ध की नहीं शान्ति की होगी। और शान्ति के लिए विश्वव्यापी संघर्ष के दौरान दुनिया की जनता की अमेरिकी अनैतिकता के प्रति घृणा अधिकाधिक बढ़ती जा रही है। इसके साथ ही सोवियत जीवन के हर पहलू के बारे में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने की उसकी लालसा बढ़ती जाती है। ईमानदार अमेरिकी खुद स्वीकार करते हैं कि अमेरिका अनैतिकता के भँवर में फँस गया है। पर ये अमेरिकी इस बात को भुला देते हैं कि दो पीढ़ियों पहले के रूसी लोग इस नैतिक पतन की भयानकता को देख चुके थे। और तब सोवियत नवयुवकों ने अनैतिकता के ख़िलाफ़ झण्डा उठाया था। ऐसा झण्डा जैसा अभी तक कभी किसी ने उठाने और सड़कों पर ले जाने का साहस नहीं किया था। इस झण्डे पर लिखा हुआ था : "वैज्ञानिक नियमों के आधार पर हम मानव जाति का सुधार कर रहे हैं।"

सोवियत वैज्ञानिकों का दावा था :

– जब समाज व्यभिचार, अपराध-प्रवृत्ति और शराबख़ोरी के दलदल में डूबा हुआ हो तो पाप व्यक्ति-विशेष की मानसिक चेतना का परिणाम नहीं हो सकता। पाप राष्ट्र की ही ज़िम्मेदारी हो जाता है, ठीक उसी तरह जिस तरह 'टाइफ़स' और 'डिप्थीरिया' जैसे रोग राष्ट्र की ज़िम्मेदारी होते हैं।

– इतिहास सिद्ध कर चुका है कि क़ानून या मज़हब का डर दिखाकर लोगों को अच्छा बना सकना असम्भव है।

– लोग पाप क्यों करते हैं, इसका सच्चा उत्तर उन परिस्थितियों की जाँच करने पर ही मिल सकता है जिनमें वे अपना जीवन बिताते हैं। कंगाली और बेरोज़गारी दो ऐसे मुख्य कारण हैं जो लोगों को बुरी राह पर घसीट ले जाते हैं।

– विकृत काम-प्रवृत्तियों को सामाजिक उपायों के ज़रिये ही रोका जा सकता है – ऐसे उपायों के ज़रिये जो स्थायी प्रेम की भावना को बढ़ावा दें। इस भावना की अभिव्यक्ति विवाह और सन्तानोत्पत्ति में होती है।

– नैतिकता में बार-बार परिवर्तन होते रहे हैं। मनुष्य पैदायशी पापी नहीं होता, वह स्वभाव से ही पापी नहीं होता। दुराचार को तभी उखाड़ कर फेंका जा सकता है जब राष्ट्र की जनता के साथ राष्ट्र के नेता भी जीवन में सदुद्देश्य का मार्ग ग्रहण करें, जब अपनी और दूसरों की खुशहाली के लिए वे अपने जीवन को अर्पित करने के लिए तत्पर रहें, अर्थात जब जीवन का उद्देश्य दूसरे मनुष्यों को पैरों तले रौंदना न हो।

इसी वैज्ञानिक आधार पर सोवियत नैतिकता का भव्य प्रासाद खड़ा किया गया और इस प्रासाद के स्तम्भों के रूप में 20 करोड़ सोवियत जनता की दृढ़ प्रतिज्ञा रही है कि राष्ट्रीयता, नस्ल, धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था के भेदभावों को भुलाकर दुनिया की समूची जनता के हित में वह शान्ति की सुरक्षा करेगी।

सच्चाई पर धूल फेंकने, और मनुष्य की पाप प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने या उन पर बड़े-बड़े आँसू बहाने का ज़माना गुज़र चुका। आज जो पाप हमारे समाज की जड़ें काट रहा है, वह टाइफ़स से ज़्यादा अनादि और अनन्त नहीं। न ही वह कुत्सित भोजन से अधिक रहस्यमय है। उसका दारोमदार बेरोज़गारी और ख़राब स्वास्थ्य से अधिक चन्द इने-गिने लोगों पर नहीं होता।

बहुतों को यह विचार आश्चर्यजनक लगेगा कि नैतिकता और शान्ति एक ही चीज़ है। मैं आपको उन शब्दों की याद दिला दूँ जो बहुत अरसे पहले सेण्ट पॉल ने फ़िलिपियनों से कहे थे :

"अन्त में, भाइयो, जो कुछ भी सच है, जो कुछ भी छलहीन है, जो कुछ भी न्यायपूर्ण है, जो कुछ भी पवित्र है, जो कुछ भी सुन्दर है, जो कुछ भी अच्छा है – यदि ज़रा-सा भी सदाचार तुममें बाक़ी है और यदि ज़रा-सी भी प्रशंसा-भावना मौजूद है तो, उसे ही याद करो।"

सन्दर्भ–सूची

एस्टविले, *Anti Saloon League Yearbooks*, ओहायो

ब्रॉनर, वी.एम., *La Lutte Contre La Prostitution en USSR*, मास्को, 1936

ब्रॉटन, पी.एस., *Prostitution and the War*, वाशिंगटन, 1942

कैरोल, आर.एस., *What Price Alcohol?*, न्यूयार्क, 1941

कूपर, कार्टनी रायली, *Designs in Scarlet*, न्यूयार्क, 1939

ड्यूट्श, अल्बर्ट, *Drive Against Venereal Disease*, पी.एम. 1 अक्टूबर, 1944

एमर्सन, हैवेन द्वारा सम्पादित., *Alcohol and the Man*, न्यूयार्क, 1932

फ्लैक्सनर, डॉ. एब्राहम, *Prostitution in Europe*, न्यूयार्क, 1914

फ्रीडमैन, एम.आई., *The Alcohol Monopoly in foreign Countries: The Vodka Monopoly in russia*, जे.वाई. सिम्पसन द्वारा अनूदित, लन्दन, 1918

ग्लेयूक, शेल्डन, और ग्लेयूक, इलीनर, *One Thousand Juvenile Delinquents*, कैम्ब्रिज, 1934

हज़ार्ड, जॉन एन., *Soviet Housing Law*, न्यू हैवेन, 1939

जॉनसन, डब्ल्यू.ई., *The Liquor Problem in Russia*, लन्दन, 1915

क्रॉस, फ्रेडरिख सलामो, *Das Geschlenchtslaben der Japaner*, (खण्ड 6, 'योगशीवारा' शीर्षक से हर्टज़े का निबन्ध), लाइपजिग, 1931

बॉयेर, बी.ए. द्वारा अनूदित, *Official Gazette, Police Department of Vienna, Ordinance of April 5, 1911*

पैरन, थॉमस, *Next Great Plague to Come, 'The Readers' Digest'*, जुलाई, 1936

Progress in the War Against Syphilis, "Scribers' Commentator", 'The Readers' Digest', 1940

Shadow on the Land, 'अमेरिकन सोशल हाइजीन एसोसियेशन', न्यूयार्क, 1939

'पेप्पर सब-कमिटी ऑन बारटाइम हेल्थ एण्ड एजुकेशन', *Report*, वाशिंगटन, 1944

पॉवेल, हिकमैन, *Ninety Times Guilty*, न्यूयार्क, 1939

प्रोप्पर-ग्राश्चेंकोव, एन., *A Public Health Protection in the USSR*, मास्को, 1936

रैम्बॉड, अल्फ्रेड निकोलस, *History of Russia*, खण्ड 1, न्यूयार्क, 1929

रॉबिन्सन, विक्टर द्वारा सम्पादित, *Morals in Wartime*, न्यूयार्क, 1943

रोजर्स, जेम्स एफ, *Instruction in the Effects of Alcohol and Tobacco*, वाशिंगटन, 1940

स्कॉट, जे.ए. *Venerel Disease in the Soviet Union, 'British Journal of Venereal Diseases'*, मार्च, 1945

सिगेरेस्ट, हेनरी ई., *Socialised Medicine in the Soviet Union*, न्यूयार्क, 1937

सिम्पसन, जेम्स वाई., *Some Notes on the State Sale Monopoly and Subsequent prohibition of Vodka in Russia*, लन्दन, 1918

वेब, सिडनी और वेब, बीट्रिस, *Soviet Communism: A New Civilisation?*, खण्ड 2, लन्दन, 1936

पत्रिकाएँ और पुस्तिकाएँ

Current History, The New York Time, मास्को, 1936

Journal of the Americal Medical Association, शिकागो, 1936

अमेरिकी-रूसी संस्थान के प्रकाशन, न्यूयार्क

शराब सम्बन्धी अध्ययन संस्थान के प्रकाशन, येल विश्वविद्यालय

Venereal Disease Information, वाशिंगटन, डी.सी.

अमेरिकी पब्लिक हेल्थ सर्विस के प्रकाशन, वाशिंगटन, डी.सी.

• • •

मौजूदा ज़माने की दो एकदम अलग-अलग सभ्यताओं ने वेश्यावृत्ति, गुप्त रोग, नशाख़ोरी जैसी सामाजिक बुराइयों को उखाड़ फेंकने के लिए कुछ तरीक़े अपनाये। डाइसन कार्टर ने उनकी सच्ची और निष्पक्ष रिपोर्ट पेश की है। अमेरिका में विज्ञान का महत्वपूर्ण विकास हुआ है। पर कोई इस बात से भी इन्कार नहीं कर सकता कि "सुधार" के राजनीतिक आन्दोलनों, पुलिस की विशेष कार्रवाइयों और गिरजाघरों में लगातार धर्मोपदेश के बावजूद अमेरिका में गुप्त रोग, वेश्यावृत्ति और नशाख़ोरी जैसी बुराइयाँ बुरी तरह फैली हुई हैं। सोवियत रूस एक नयी समाज-व्यवस्था का पहला और सबसे बड़ा प्रतिनिधि था। वहाँ इस बात की पूरी गुंजाइश थी कि वर्तमान समाज की ये ख़ौफ़नाक वसीयतें पूरे ज़ोर-शोर से भड़क उठें। क्रान्ति ने संगठित धर्म-व्यवस्था को ख़त्म कर दिया था। क्रान्ति के बाद विदेशियों के आक्रमणों और उत्पादन की बढ़ती हुई दर से उत्पन्न कठिनाइयों के बारे में भी सोचिए। पूँजीवादी तर्क-पद्धति आपको इसी नतीजे पर पहुँचायेगी कि वहाँ व्यभिचार का ख़ूब बोलबाला होगा। पर, सोवियत रूस में वेश्यावृत्ति एकदम ख़त्म हो गयी। जो देश कभी किसानों और मज़दूरों की नशेबाज़ी से बदनाम था, वहाँ शराबख़ोरी का क़रीब-क़रीब लोप हो गया।

ये परिणाम, जो बड़े विचित्र और असंगत प्रतीत होते हैं, सोवियत रूस में वैज्ञानिक अनुसन्धान के द्वारा इन समस्याओं की जड़ों का पता लगाकर ही प्राप्त किये गये थे। पूँजीवादी देशों में पुलिस वाला जिस सवाल को उठाने की हिम्मत नहीं कर सकता, पादरी जिस सवाल को उठा नहीं सकता, वैज्ञानिक जिस सवाल को उठाता ही नहीं, वह यह है आख़िर इन बुराइयों की जड़ क्या है? सोवियत रूस का उत्तर था कि कुछ वर्ग इन बुराइयों से बेशुमार मुनाफ़े कमाते हैं, इसलिए ये मौजूद हैं। इस तरह सामाजिक बुराइयों से मुनाफ़ा कमाना, सामाजिक बुराइयों से लाभ उठाना, जनता के बहुसंख्यक भाग के आम शोषण का ही नतीजा है। इससे जनता का बहुत बड़ा भाग इनकी तरफ़ झुकता है। इसीलिए, ये फैलती हैं। जनता के आम शोषण का अन्त होने से ही, सोवियत रूस में इनके मूल कारणों का भी अन्त हुआ। जो इनसे मुनाफ़ा कमाते थे उनको कड़ा दण्ड दिया गया, उन लोगों को नहीं जो इनके शिकार हुए थे; अर्थात चकले चलाने वालों को, वेश्याओं को नहीं; ग़ैर-क़ानूनी तौर पर शराब बनाने वालों को, शराब पीने वालों को नहीं। पहले की सभी बुराइयाँ छू-मन्तर हो गयीं क्योंकि अब उनके टिकने की कोई वजह नहीं रह गयी थी। मनुष्य का जीवन पहली बार रहने के लायक सुखमय जीवन बना। जीवन से कतराने और भागने की अब कोई ज़रूरत नहीं रह गयी।

(प्रो. डी.डी. कोसाम्बी द्वारा लिखित इस पुस्तक की भूमिका से)

राहुल
फ़ाउण्डेशन

ISBN 978-81-87728-41-2

मूल्य: 175 रुपये